दिगंबर जैन संप्रदाय

एक अध्ययन

भूषण शाह

''जैनशासन-जयकारा''

दिगंबर जैन संप्रदाय
एक अध्ययन

✻ देवलोक से दिव्य सान्निध्य ✻

प.पू. गुरुदेव श्री जम्बूविजयजी महाराज

✻ मार्गदर्शन ✻

डॉ. प्रीतमबेन सिंघवी

✻ संपादक ✻

भूषण शाह
(M.E. (I.T.), M. Phil)

✻ प्रकाशक/प्राप्ति स्थान ✻

मिशन जैनत्व जागरण
'जंबूवृक्ष' सी/504, श्री हरि अर्जुन सोसायटी,
चाणक्यपुरी ओवर ब्रिज के नीचे,
प्रभात चौंक के पास, घाटलोडीया
अहमदाबाद -380061

दिगंबर जैन संप्रदाय एक अध्ययन

© लेखक एवं प्रकाशक

✻ प्रतियाँ : 1000

✻ प्रकाशन वर्ष : वि. सं. 2074, ई. सं. 2018

✻ मूल्य : 200 ₹ ✻ प्रथम आवृत्ति

✻ न्याय क्षेत्र : अहमदाबाद

प्राप्ति स्थान

'मिशन जैनत्व जागरण' के सभी केन्द्र

जयपुर
C/o. सुरेन्दकुमार दुग्गड
४-ठ-१ सी, प्रेम सदन, जवाहर नगर,
जयपुर-३०२००४, मो.९४६१६०१३१९

जोधपुर
विजयराजजी सिंघवी
जी हुजूर रेडीमेंट, त्रिपोलीया बजार,
जोधपुर-३४२००२ (राज.)

उदयपुर
अरुण कुमार बडाला
उदयपुर शहर, ४२७ बी, एमराल्ड टावर,
हाथीपोल, उदयपुर-३१३००१ (राज.)

करौली
डॉ. मनोज जैन
B-३, एच.पी. पेट्रोलपंप के पीछे, नयी मंडी,
हींडौन सीटी, करौली-३२२२३० (राज.)

लुधियाणा
अभिषेक जैन : शान्ति निटवेर्स,
पुराना बाजार, लुधियाणा (पंजाब)

पूणे
हर्षद महेशभाई पारेख
बी/४८, पद्मावतीनगर सोसायटी,
संभाजीनगर, धनकवाडी पूणे ४११०४३
मो. : ९८२२४१२८०८

सूरत
राजप्रकाशभाई वसा,
१०१, समवसरण फ्लेट, जैन मंदिर के सामने,
अथावालैन्स, सूरत मो. : ९८२५६ ३३३३३

मुंबई
जीतेन्द्र जैन : माइक्रोनीक्ष इन्फोटेक
८०, गणेश भवन, चौथा माला, ओफीस नं. ५०,
रामवाडी, जागृती माताजी मार्ग, काल्बादेवी,
मुंबई-४००००२ (महा.)

के. जी. एफ.
आशीष तलेदा
प्रीन्स सूरजमुल्ल सर्कल, रोबर्ट सोनपेट
के.जी.एफ.-५६३१२२ (कर्णा.)

ईन्दोर
मे. प्रमीला कीमटी
कीमटी सायकल हाउस
११, महाराणी रोड, ईन्दोर-४५२००७ (एम.पी.)

विजयवाडा
अक्षयकुमार जैन
डोर नं. ११-१६-१/१, सींग राजुवाली स्ट्रीट
वीजयवाडा-५२०००१ (आं.प्र.)

बेंग्लोर
अरविन्द कुमार ओस्तवाल
मैत्री क्रिएशन्स, नं. १०, ऋषभदेव,
डी.एस.लेन. चिकपेट क्रॉस, बेंग्लोर-५६००५३
फोन : ०८०-४१५१४९०९
मो. ९८४५८०४९९८, ९४४८३७५८२३

दील्ही
मेघ प्रकाशन C/o. मेघराजजी जैन,
B-५/२६३ यमुना विहार, दिल्ही-११००५३

नाशिक
आनंद नागशेठिया : ६४१, महाशोबा लेन,
रविवार पेठ, नाशिक (महा.)

सीकन्द्राबाद
रुपेश वी. शाह
२-३-५४०, पहला माला, सुनीता सर्जन
अपार्टमेन्ट, पार्श्व पद्मावती मंदीर के सामने,
डी.वी. कोलोनी, सीकन्द्राबाद-५००००३

✻ पत्र प्राप्त होने पर प्रस्तुत पुस्तक पू. साधु-साध्वी भगवंतों को भेंट स्वरूप भेजी जाएगी। ✻ आवश्यकता न होने पर पुस्तक को प्रकाशक के पते पर वापस भेजने का कष्ट करें। ✻ आप इसे Online भी पढ़ सकते हैं.... www.jaineliabrary.org. पर। ✻ पुस्तक के विषय में आपके अभिप्राय अवश्य भेजें। ✻ पोस्ट से या कोरियर से मंगवाने वाले प्रकाशक के एड्रेस से मंगवा सकते हैं।

Printed by : BHAGYA GRAPHICS, Ahmedabad, (M) 9327057627

पुष्प समर्पण....

प्रस्तुत पुष्प
जैनशासन के ज्योर्तिधर,
तपागच्छाचार्य, दीक्षायुगप्रवर्तक
आ. भ. श्री रामचंद्रसूरिजी म.सा. एवं
युवा जागृति प्रेरक, न्यायविशारद
आ. भुवनभानुसूरिजी म.सा. को

सादर समर्पित....

–भूषण शाह

अनुक्रमणिका

क्र.		प्रष्ठ.
1.	प्रस्तुत अध्ययन की स्रोत-सामग्री	5
2.	जिनकल्प एवं स्थवीरकल्प का स्पष्टीकरण	7
3.	अर्हत् वर्धमान के पूर्व निर्ग्रंथ संघ की स्थिति	14
4.	अर्हत् पार्श्व का सचेलक कल्प	16
5.	अर्हत् वर्धमान के समय की स्थिति	18
6.	अचेलकता और यापनिय संप्रदाय	21
7.	शिवभूति से चला दिगंबर संप्रदाय	34
8.	शिवभूति के बाद का दिगंबर संप्रदाय	46
9.	श्वेताम्बरों पर आक्षेप	50
10.	आक्षेप का निराकरण	56
11.	आधुनिक विद्वानों के विचार	60
12.	श्वेताम्बर संप्रदाय के प्राचीनता की सिद्धि	63
13.	दिगम्बर परम्परा की अर्वाचिनता स्वयंसिद्ध है	68
14.	श्वेतांबर जैन आगम और दिगम्बर ग्रंथों का परिशिलन	73
15.	दिगंबर ग्रंथों की उत्पत्ति का निर्णय	85
16.	दिगंबर संप्रदाय की पट्टावलीयाँ	88
17.	दिगंबर जैन साहित्य : एक अध्ययन	101
18.	आचार्य गुणधर एवं आचार्य धरसेन - एक अध्ययन	135
19.	मूल संघ एवं माधुर संघ एक विमर्श	138
20.	स्त्री मुक्ति, अन्य तैर्थिक मुक्ति एवं सवस्त्र मुक्ति के दिगम्बर शास्त्रपाठ	147
21.	दिगंबर संप्रदाय और आचार्य कुन्दकुन्द	157
22.	मूल संघ की पट्टावलियाँ	
23.	मथुरा के कंकाली टीले से श्वेतांबर मत की प्राचिनता	164
24.	श्वेताम्बर-दिगंबर मूर्तियों की नूतन मर्यादा- वि. सं. 980	171
25.	उपसंहार	173

।। ॐ ऐं नमः।।

प्रस्तुत अध्ययन की स्रोत-सामग्री...

इस प्रश्न पर ऐतिहासिक दृष्टि से विचार करने हेतु हमारे पास जो प्राचीन स्रोत सामग्री उपलब्ध है, उनमें प्राचीन स्तर के अर्धमागधी आगम, पालित्रिपिटक और मथुरा से प्राप्त प्राचीन लेख एवं जिन-प्रतिमाओं की पाद-पीठ पर अंकित मुनि-प्रतिमाएँ ही मुख्य हैं। श्वेतांबर परम्परा द्वारा मान्य अर्धमागधी आगमों में आचारांग, सूत्रकृतांग, उत्तराध्ययन और दशवैकालिक ही ऐसे ग्रंथ हैं जिन्हें इस चर्चा का आधार बनाया जा सकता है, क्योंकि प्रथम तो ये प्राचीन (ई. पू. के) हैं और दूसरे इनमें हमें सम्प्रदायातीत दृष्टिकोण उपलब्ध होता है। अनेक पाश्चात्य विद्वानों ने भी इनकी प्राचीनता एवं सम्प्रदाय निरपेक्षता को स्वीकार किया है। शौरसेनी आगम साहित्य में कसायपांहुड़ ही एकमात्र ऐसा ग्रंथ है, जो अपेक्षाकृत प्राचीन स्तर का है, किन्तु दुर्भाग्य से इसमें वस्त्र-पात्र सम्बन्धी कोई भी विवरण उपलब्ध नहीं है। शेष शौरसेनी आगम-ग्रंथों में भगवती आराधना, मूलाचार और षट्खण्डागम मूलतः यापनीय परम्परा के हैं। साथ ही गुणस्थान सिद्धांत आदि की परावर्ती अवधारणाओं की उपस्थिति के कारण ये ग्रंथ भी विक्रम की छठी शती के पूर्व के नहीं माने जा सकते हैं, फिर भी प्रस्तुत चर्चा में इनका उपयोग इसलिये आवश्यक है कि अचेल पक्ष को प्रस्तुत करने के लिये इनके अतिरिक्त अन्य कोई प्राचीन स्रोत-सामग्री हमें उपलब्ध नहीं है। जहाँ तक कुन्दकुन्द के ग्रंथों का प्रश्न है, उनमें सुत्तपाहुड़ एवं लिंगपाहुड़ को छोड़कर यह चर्चा अन्यत्र कहीं नहीं मिलती है। ये ग्रंथ भी छठीं शती के पूर्व के नहीं हैं। दुर्भाग्य यह है कि अचेल परम्परा के पास सचेलकत्व और अचेलकत्व की इस परिचर्चा के लिये छठी शती के पूर्व की कोई भी सामग्री उपलब्ध नहीं है।

इस दृष्टि से पालित्रिपिटक के उल्लेख अधिक महत्त्वपूर्ण हैं और किसी सीमा तक सत्य के निकट भी प्रतीत होते हैं। इस परिचर्चा के हेतु जो आधारभूत प्रामाणिक सामग्री हमें उपलब्ध होती है, वह है मथुरा से उपलब्ध प्राचीन जैन मूर्तियाँ और उनके अभिलेख। प्रथम तो यह सब सामग्री ईसा की प्रथम-द्वितीय शताब्दी की है। दूसरे इसमें किसी भी प्रकार के प्रक्षेप आदि की सम्भावना भी नहीं है। अतः यह प्राचीन भी है और प्रामाणिक भी क्योंकि इसकी पुष्टि अन्य साहित्यिक स्रोतों से भी हो जाती है। अतः इस परिचर्चा में हमने सर्वाधिक उपयोग इसी सामग्री का किया है।

हमने इस विषय में संशोधन करने वाले आ. विजयेन्द्र सू.म., महो.धर्मसागरजी म., पू.दर्शन-ज्ञान-चारित्र.वि.म. (त्रिपुटी म.) पू.आ. नरेन्द्रसागरजी म., पू.पं.कल्याण.वि.म., महो.यशोविजयजी.म., पं. काशीनाथजी, पं. सागरमलजी, पं. नाथूराम प्रेमी, पं. जुगलकिशोर मुख्तर, पं. टोडरमलजी, पं. हीराचंद्रजी आदि के ग्रंथों का, लेखों का भी भरपूर उपयोग किया है एवं अनेक आचार्यादि गुरुभगवंतों का सहयोग रहा है।

इसके अतिरिक्त अनेकांत, श्रमण, जैन सत्य प्रकाश, जैन जर्नल, जैन गजट, स्वाध्याय, संबोधि, आगमोद्धारक, अनुसंधान, जैन एन्टीक्वेरी, जैन सिद्धान्त भास्कर, शोधादर्श और प्राकृत विद्या जैसे जैन सामयिकों का भी उपयोग किया है।

प्रस्तुत ग्रंथ किसी संप्रदाय के द्वेष से नहीं लिखा है, परंतु दिगंबर विद्वानों द्वारा बार-बार किए जाने वाले आक्षेपों का प्रत्युत्तर मात्र है... प्रस्तुत ग्रंथ का मैने कोई लेखन नहीं किया... एक संकलन मात्र है... जिसको व्यवस्थित रूप में संपादित किया गया है। सुज्ञजन इस ग्रंथ को पढ़कर सत्यासत्य का निर्णय करें....

जिनाज्ञा विरुद्ध कुछ लिखा हो तो क्षमापना....

भूषण...

जिनकल्प एवं स्थविर कल्प का स्पष्टीकरण

भगवान महावीर के श्रमणगण में आचार-मार्ग दो थे-एक स्थविरकल्प और दूसरा जिनकल्प।

सभी मनुष्य पहले 'स्थविरकल्प' में दीक्षित होते थे। पर विशिष्ट संहनन और श्रुतसंपत्ति पाने के उपरान्त उनमें से जो श्रमण अधिक उग्र चर्या धारण करना चाहते थे वे 'स्थविरकल्प' से निकलकर 'जिनकल्प' का स्वीकार करते थे और तब से वे 'जिनकल्पित' कहलाते थे।

श्वेतांबर जैनों के निर्युक्ति और भाष्यादि आगम ग्रन्थों में जिनकल्पित की व्याख्या करते हुए उसकी योग्यता के विषय में लिखा गया है कि जो वज्रऋषभनाराचसंहननवाला और साढ़े नवपूर्व के ऊपर तथा दशपूर्व के भीतर श्रुत पढ़ा हुआ हो वही जिनकल्प ग्रहण कर सकता है। जिनकल्पिक नग्न, निष्प्रतिकर्म और विविध अभिग्रहधारी होने के नाते एक होते हुए भी, 'पाणिपात्र' (हाथ में भोजन करनेवाले) और 'पात्रधारी' के भेद से दो प्रकार के होते हैं।

1. पाणिपात्र भी उपधिभेद से चार प्रकार के होते थे। कोई रजोहरण और मुखवस्त्रिका ये दो उपकरण रखते, कोई उक्त दो के अतिरिक्त एक, कोई दो और कोई तीन कल्प (चादरें) रखते थे।

2. पात्रधारी भी उक्त दो, तीन, चार और पाँच उपकरणों के अतिरिक्त सात प्रकार के पात्र निर्योग के रखने से क्रमशः नौ, दस, ग्यारह और बारह प्रकार की उपाधि के कारण चार प्रकार के होते थे। इस प्रकार श्वेतांबर ग्रंथों के अनुसार 'जिनकल्पिकों' के मूल दो और उत्तर आठ भेद होते थे।

दिगम्बर जैनाचार्य देवसेन कृत 'भावसंग्रह' में जिनकल्पिकों का वर्णन नीचे मुजब उपलब्ध होता है-

''तीर्थंकरों ने 'कल्प' दो प्रकार का कहा है-'जिनकल्प' और 'स्थविरकल्प'। जिनकल्प उत्तम संहननधारी के लिये कहा है। जिनकल्प में रहे हुए मुनि पैर में लगा कांटा या नेत्र में गिरि रज को स्वयं नहीं निकलते, दूसरों के निकालने पर वे मौन रहते हैं। जलवृष्टि आदि के कारण विहार मार्ग रूक जाने पर वे छः मास तक निराहार कायोत्सर्ग-ध्यान में रहते हैं। वे एकादशाङ्ग सूत्रों के धारक, धर्म और शुक्ल ध्यान को ध्यानेवाले, संपूर्ण कषायत्यागी, मौनव्रती और गुहावासी होते हैं।

बाह्य एवं आभ्यन्तर परिग्रह रहित निःस्नेह निःस्पृह होकर जिनकी तरह विचरते हैं, अतएव वे जिनकल्पस्थित श्रमण कहलाते हैं।''

अब हम इन्हीं जिनकल्पों का वर्णन दिगम्बर विद्वान् वामदेव के 'भावसंग्रह' के आधार पर लिखेंगे।

'अब जिनकल्प नामक वृत्तान्त कहते हैं जिससे कि भव्य आत्माओं को मुक्ति का सङ्गम प्राप्त होता है। जिनकल्पित शुद्ध सम्यक्त्व युक्त, इंद्रिय और कषायों को जीतने वाले, एकादशाङ्ग श्रुत को एक अक्षर की तरह जाननेवाले होते हैं। पैर में लगा कांटा और आँखों में गिरी हुई रज को वे स्वयं नहीं दूर करते, दूसरों के दूर करने पर वे मौन रहते हैं। वे प्रथम संहनन(वज्रऋषभनाराच)वाले और निरंतर मौनी होते हैं। पर्वत की गुफाओं में, जङ्गलों में अथवा नदी के तट पर रहते हैं। वर्षाकाल में मार्ग जीवाकुल होने पर छः मास तक निःस्पृह और निराहार कायोत्सर्गध्यान में खड़े हैं। मोक्षसाधन में एकनिष्ठावाले, रत्नत्रय से शोभित, निःसंग और निरन्तर धर्म और शुक्ल ध्यान में लीन रहते हैं। ये मुनि 'जिन' की तरह अनियतवासी होकर विचरते हैं, इसी कारण से आचार्यों ने इनको 'जिनकल्प' इस नाम से कहा है।

स्थविरकल्पित

जैन आगमों में स्थविरकल्पिकों का जो वर्णन मिलता है, उसे हम दो भागों में बाँटेंगे और उनको क्रमशः 'सूत्रकालीन' तथा 'भाष्यकालीन' इन नामों से पहचानेंगे।

सूत्रकालीन स्थविरों का वर्णन इस प्रकार है–

''जो भिक्षु तीन वस्त्र और एक पात्र के साथ रहता है, उसे कभी चतुर्थ वस्त्र माँगने की इच्छा नहीं करनी चाहिये। तीन वस्त्र भी निर्दोष जानकर माँगने चाहिये और जैसे मिलें वैसे ही काम में लाने चाहिये। न उन्हें धोवे रंगे, व धुले रंगे वस्त्रों को धारण करे। विहार में उन्हें न छिपाकर अल्प वस्त्रवान् होकर फिरे। यदी वस्त्रधारी की सामग्री है। जब वह यह समझे कि शीतकाल बीत गया और ग्रीष्मकाल आ गया है तब यथाजीर्ण वस्त्रों को त्याग दे व कम कर दे अथवा एक शाटक (टुकड़ा) रख कर बाकी त्याग दे अथवा बिल्कुल अचेल बन जाय। इस प्रकार करता हुआ वह अपने को हलका बनाता है और इससे एक प्रकार की तपःसाधना होती है। जो बात भगवान् ने कही है उसे यथार्थ समझना चाहिये।''

''जो भिक्षु एक पात्र और दो वस्त्रों के साथ रहता है उसे तीसरे वस्त्र की

याचना नहीं करनी चाहिये।''

''जो भिक्षु एक पात्र और एक वस्त्र के साथ रहता है उसे दूसरा वस्त्र माँगने की इच्छा नहीं करनी चाहिये।''

''जो भिक्षु अचेलक होकर रहता है यदि वह यह समझे कि मैं तृणस्पर्श, शीतस्पर्श, तेजःस्पर्श, दंशमशकस्पर्श और दूसरा कोई भी भयंकर स्पर्श सहन कर सकता हूँ, पर लज्जा प्रतिच्छादन को नहीं छोड़ सकता तो वह कटिबन्धन रख सकता है। अचेलक होकर विचरने में तृण, शीत, ताप और दंशमशक का स्पर्श अथवा कोई अन्य भयंकर स्पर्श भी आ पड़े तो उसे सहन करे। अचेलक में लघुता समझ कर उक्त परीषह सहन करे।''

''जो भी दो वस्त्रों से, तीन वस्त्रोंम से, बहुवस्त्रों से अथवा अचेलकता से अपना निभाव करते हैं वे एक दूसरे की निन्दा नहीं करते क्योंकि वे सभी जिज्ञासा में चलते हैं।''

अब हम भाष्यकालीन अर्थात् विक्रम की दूसरी तीसरी सदी के स्थविरों के वेष और उपकरणों का वर्णन करेंगे-

भाष्यकाल में स्थविरों के उपकरणों में कुछ वृद्धि हो गई थी। यद्यपि तीन वस्त्र, कटिबद्ध और एक पात्र रखने की रीति पहले से ही चली आती थी पर उसमें खास परिवर्तन यह हुआ था कि पहले जो कटिबद्ध नामक एक छोटा चिथड़ा कमर पर लपेटा जाता था और जिसके दोनों अंचल गुह्य भाग ढाँकने के निमित्त आगे की तरफ लटके रहने के कारण 'अग्रावतार' भी कहलाता था, उसका स्थान अब चोलपट्टक ने ग्रहण कर लिया था। पहले प्रतिव्यक्ति एक ही पात्र रक्खा जाता था पर आर्यरक्षितसूरि ने वर्षाकाल में एक 'मात्रक' नामक अन्य पात्र रखने की जो आज्ञा दे दी थी उसके फलस्वरूप आगे जाकर 'मात्रक' भी एक अवश्य धारणीय उपकरण हो गया। इसी तरह झोली में भिक्षा लाने का रिवाज भी लगभग इसी समय चालू हुआ जिसके कारण पात्रनिमित्तक उपकरणों की वृद्धि हुई। परिणाम स्वरूप स्थविरों के कुल 14 उपकरणों की संख्या हुई जो इस प्रकार है-

1. पात्र, 2. पात्रबन्ध, 3. पात्रस्थापन, 4. पात्रप्रमार्जनिका, 5. पटल, 6. रजस्त्राण, 7. गुच्छक, 8-9. दो सौत्र वस्त्र (चादरें), 10. ऊनी वस्त्र (कम्बल), 11. रजोहरण, 12. मुखवस्त्रिका, 13. मात्रक और 14. चोलपट्टक।

यह उपधि 'औधिक' अर्थात् सामान्य मानी गयी और आगे जाकर इसमें जो

कुछ उपकरण बढ़ाये गये वे 'औपग्रहिक' कहलाये। औपग्रहिक उपधि में संस्तारक, उत्तरपट्टक, दंडासन और दंडक ये खास उल्लेखनीय हैं। ये सब उपकरण आजकल के श्वेताम्बर जैन मुनि रखते हैं।

दिगम्बराचार्यों का स्थविरकल्प

आचार्य देवसेन अपने 'भावसंग्रह' नामक ग्रन्थ में लिखते हैं-''जिन ने साधुओं के लिये स्थविरकल्प भी कहा है। वह इस प्रकार है- पंचवस्त्रत्याग, अकिंचनता, प्रतिलेखन, अंच महाव्रतों का धारण-करना, खड़े भोजन, एक बार भोजन, हाथ में भोजन (वह भी समय पर भक्तिपूर्वक दिया हुआ), भिक्षा की याचना न करना, दो प्रकार के तप मं उद्यम करना, सदाकाल छः प्रकार का आवश्यक करना, भूमिशयन, केशलोच और जिनवर के जैसा प्रतिरूप ग्रहण करना।

''संहनन के गुण और दुःषमकाल के प्रभाव से आजकल स्थविरकल्पस्थित साधु पुर, नगर और ग्रामवासी हो गये हैं और उन्होंने वह उपकरण भी ग्रहण किया है जिससे की चारित्र का भंग न होता हो। योग्य होने पर पुस्तकदान भी स्वीकार करते हैं। समुदाय से विहार, यथाशक्ति धर्मप्रभावना, भव्य जीवों को धर्मोपदेश, शिष्यों का पालन तथा ग्रहण स्थविरकल्पिकों का आचार है। यद्यपि संहनन तुच्छ, काल दुःषम और मन चपल है तथापि धीर पुरुष महाव्रतों का भार उठाने में उत्साहवान् हैं।

''पूर्वकाल में उस शरीर से हजार वर्ष में जितने कर्मों का नाश करते थे, आजकल के हीनसंहननी एक वर्ष में उतने कर्मों की निर्जरा करते हैं।

अब हम महावीर के शासन में 'श्वेतांबर' और 'दिगम्बर' नामक दो शाखाएँ निकलने के कारण पर विचार करेंगे।

मतभेद का अङ्कुर

कुछ युरोपीय और भारतवर्षीय विद्वानों का यह ख्याल है कि महावीर के निर्वाण के बाद तुरन्त ही उनके शिष्यों में दो विभाग हो गये थे। पर वास्तव में यह बात नहीं है। जिन बौद्ध उल्लेखों के आधार पर वे ऐसा ख्याल करते हैं वे उल्लेख वस्तुतः महावीर की जीवित अवस्था में उनके शिष्य जमालि द्वारा खड़े किये गये मतभेद के सूचक हैं। जहाँ तक हम समझते हैं इस मतभेद का बीज 'आचाराङ्गसूत्र'

का वह उल्लेख है कि जिसमें साधु को अचेलक रहने में लाभ बताया है।

महावीर निर्वाण के बाद चौसठ वर्ष तक उनके शिष्यों में स्थविरकल्पिक और जिनकल्पिक दोनों तरह के साधु रहे, पर बाद में जिनकल्प का आचरण बंद पड़ गया और लगभग डेढ़ सौ वर्ष तक उसकी कुछ भी चर्चा नहीं हुई। स्थविरकल्प में रहने वाले साधु यद्यपि नग्नप्राय रहते थे, तथापि शीतनिर्वाणार्थ कुछ वस्त्र और एक पात्र अवश्य रखते थे। यह स्थिति भद्रबाहु के पट्टधर आर्य स्थूलभद्र पर बराबर चलती रही।

आर्य स्थूलभद्र के शिष्यों में से सब से बड़े आर्य महागिरि ने पिछले समय में अपना साधुगण आर्य सुहस्ती को सौंप दिया और आप वस्त्रपात्र का त्याग का जिनकल्पिक साधुओं का सा आचार पालने लगे। यद्यपि वे स्वयं जिनकल्पिक होने का दावा नहीं करते थे तथापि उनका झुकाव वस्तुतः जिनकल्प की ही तरफ था।

उस समय के सब से बड़े श्रुतधर होने के कारण आर्य महागिरि के इस आचरण का किसी ने विरोध नहीं किया, बल्कि जिनकल्प की तुलना करनेवाले कहकर उनके सतीर्थ्य आर्य सुहस्ती जैसे युगप्रधान ने उनकी प्रशंसा की, पर आगे जाते यह प्रशंसा महँगी पड़ी। आर्य महागिरि तो वीरनिर्वाण संवत् 261 में स्वर्गवासी हो गये, पर उन्होंने जो जिनकल्प का अनुकरण किया था उसकी प्रवृत्ति बंद नहीं हुई। उनके कतिपय शिष्यों ने भी उनका अनुकरण किया। परिणामस्वरूप आर्य महागिरि और सुहस्ती सूरि के शिष्यगण में अन्तर और मनमुटाव बढ़ने लगा और अन्त में खुल्लमखुल्ला नग्नचर्या और करपात्रवृत्ति का विरोध होने लगा। महागिरि की परम्परावाले आचाराङ्ग के अचेलकत्व प्रतिपादक उस उल्लेख से अपनी प्रवृत्ति का समर्थन करते थे, तब विरोध पक्ष वाले उस उल्लेख का अर्थ जिनकल्पिकों का आचार होना बताते थे और स्थविरों के लिये वैसा करना निषिद्ध समझते थे। वे कहते थे कि 'बिलकुल वस्त्र न रखना और हाथ में भोजन करना जिनकल्पिकों का आचार है, स्थविरकल्पिकों को उसकी तुलना भी नहीं करनी चाहिये, क्योंकि जब इस समय उत्तम संहनन न होने से जिनकल्प पाला ही नहीं जाता तो उसका स्वांग करने से क्या लाभ?' इस प्रकार दोनों की तनातनी बढ़ती जाती थी। सम्भवतः आर्य महागिरि का शिष्य रोहगुप्त और प्रशिष्य आर्य गंग भी बाद में जिनकल्पिक पक्ष में मिल गये थे जो कि तीन रोशनियों के और दो क्रियाओं के अनुभव की प्ररूपणा करने के अपराध में संघ से बहिष्कृत किये गये थे। यद्यपि रोहगुप्त, गांगेय

वगैरह के मिल जाने के कारण वह पक्ष कुछ समय के लिये विशेष आग्रही बन गया था, पर अन्त में वह निर्बल हो गया। आर्य महागिरि के शिष्यप्रशिष्यों के स्वर्गवास के बाद दो तीन पीढ़ी तक चल कर वह नामशेष रह गया।

इस प्रकार आचाराङ्ग के एक उल्लेखरूप बीज से सचेलकता-अचेलकता के मतभेद का अंकुर उत्पन्न हुआ और कुछ समय के बाद मुरझा गया। यद्यपि इस तनातनी का असर स्थायी नहीं रहा, तथापि इतना जरूर हुआ कि पिछले आचार्यों के मन में आये महागिरि के शिष्यों के संबंध में वह श्रद्धा नहीं रही जो वैसे श्रुतधरों के ऊपर रहनी चाहिये थी। यही कारण है कि वालभी युगप्रधान पट्टावली में आज हम महागिरि के शिष्य बलिस्सह और स्वाति जैसे बहुश्रुतों का नाम नहीं पाते। उधर आर्य सुहस्ती की स्थविरपरम्परा प्रतिदिन व्यवस्थित और प्रबल हो रही थी और आर्य वज्र तक इसी प्रकार उन्नति करती रही, पर आर्य वज्र के समय में दो बार पड़े हुए दीर्घकालीन दुर्भिक्षों के कारण जैन श्रमणसंघ बहुत छिन्न-भिन्न हो गया। वज्र प्रभृति सैकड़ों स्थविर दुष्काल के कारण अनशन करके परलोक सिधार गये। शेष जो बचे थे वे भी एक दूसरे से बहुत दूर चले गये थे। यद्यपि वज्र के बाद आर्यरक्षित, जो कि सर्वसम्मति से संघस्थविर नियत हुए थे, अंततक संघस्थविर रहे, पर आर्यरक्षित के स्वर्गवास के बाद स्थविरों में दो दल हो गये।

जो श्रमणगण दुष्काल के कारण पूर्व एवं उत्तर में दूर तक चले गये थे उन्होंने आर्यरक्षित के बाद आर्य नन्दिल को अपना नया संघ-स्थविर नियत कर लिया। जो श्रमणगण दक्षिण, पश्चिम और मध्यभारत में विचरते थे उन्होंने आर्यरक्षित के बाद उनके शिष्य पुष्यमित्र को संघ-स्थविर माना जो आर्यरक्षित के उत्तराधिकारी थे। इस प्रकार विक्रम की दूसरी सदी में श्रमण संघ की यद्यपि दो शाखायें हो गई थीं तथापि उनके आचारमार्ग में कुछ भी शिथिलता नहीं आने पायी थी। सभी श्रमणगण आचाराङ्गसूत्र के अनुसार एक-एक पात्र और मात्र शीतकाल में ओढ़ने के लिये एक, दो या तीन वस्त्र रखते थे। चोलपट्टक का अभी तक प्रचार नहीं हुआ था, पर कटिबन्ध (अग्गोयरअग्रावतार) का लगभग सार्वत्रिक प्रचार हो गया था। यद्यपि बस्ती के बाहर उसे कोई रखता और कोई बिलकुल नग्न रहता पर बस्ती में जाते समय सभी को उसका उपयोग करना पड़ता था। शीतनिवारणार्थ जो एक कम्बल और एक दो सूती वस्त्र रखे जाते थे वे भी ठंडी के समय में ही ओढ़े जाते थे, शेष काल में ओढ़ने की प्रवृत्ति नहीं थी।

आर्य रक्षित के स्वर्गवास के बाद धीरे-धीरे साधुओं का निवास बस्तियों में

होने लगा और इसके साथ ही नग्नता का भी अन्त होता गया। पहले बस्ती में जाते समय बहुधा जिस कटिबन्ध का उपयोग होता था वह बस्ती में बसने के बाद निरन्तर होने लगा। धीरे-धीरे कटिवस्त्र का भी आकार-प्रकार बदलता गया। पहले मात्र शरीर का अगला गुह्य अंग ही ढंकने का विशेष ख्याल रहता था, पर बाद में सम्पूर्ण नग्नता ढांक लेने की जरूरत समझी गयी और उसके लिये वस्त्र का आकार प्रकार भी कुछ बदलना पड़ा। फलतः उसका नाम 'कटिबन्ध' मिटकर चोलपट्टक (चुल्लपट्ट-छोटा वस्त्र) पड़ा। इस प्रकार स्थविरकल्पियों में जो पहले ऐच्छिक नग्नता का प्रचार था उसका धीरे-धीरे अन्त हो गया।

आर्य महागिरि के समय से जिनकल्प की तुलना के नाम से कतिपय साधुओं ने जो नग्न रहने की परम्परा चालू की थी वह उस समय के बहुत पहले ही बंद हो चुकी थी। आचाराङ्ग के उस अचेलकता प्रतिपादक उल्लेख को जिनकल्प-प्रतिपादक करार दिया जा चुका था और उस समय के ग्रंथकार चोलपट्टक की गणना स्थविरकल्पियों के मूल उपकरणों में कर चुके थे।

अर्हत् वर्धमान के पूर्व निर्ग्रन्थ संघ में वस्त्र की स्थिति

जैन अनुश्रुति के अनुसार इस अवसर्पिणी काल में भगवान महावीर से पूर्व तेईस तीर्थंकर हो चुके थे। अतः प्रथम विवेच्य बिन्दु तो यही है कि अचेलता के सम्बन्ध में इन पूर्ववर्ती तीर्थंकरों की क्या मान्यताएँ थीं? यद्यपि सम्प्रदाय भेद स्थिर हो जाने के पश्चात् निर्मित ग्रंथों में जहाँ दिगम्बर ग्रंथ एक मत से यह उद्घोष करते हैं कि सभी जिन अचेल होकर ही दीक्षित होते हैं, वहाँ श्वेतांबर ग्रंथ यह कहते हैं कि सभी जिन एक देवदूष्य वस्त्र लेकर ही दीक्षित होते हैं। श्वेतांबर और यापनीय परम्परा के अपेक्षाकृत प्राचीन स्तर के ग्रंथों में स्पष्ट रूप से यह उल्लेख मिलता है कि प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव और अन्तिम तीर्थंकर महावीर की आचार-व्यवस्था मध्यवर्ती बाईस तीर्थंकरों की आचार-व्यवस्था से भिन्न थी। यापनीय ग्रंथ मूलाचार प्रतिक्रमण आदि के सन्दर्भ में उनकी इस भिन्नता का तो उल्लेख करता है किन्तु मध्यवर्ती तीर्थंकर सचेल धर्म के प्रतिपादक थे, यह नहीं कहता है। जबकि श्वेतांबर आगम उत्तराध्ययन में स्पष्ट रूप से यह भी उल्लेख है कि अंतिम तीर्थंकर महावीर ने अचेल धर्म का प्रतिपादन किया, जबकि तेईसवें तीर्थंकर पार्श्वनाथ ने सचेल धर्म का प्रतिपादन किया। यहाँ यह भी ज्ञातव्य है कि बृहत्कल्पभाष्य में प्रथम और अन्तिम तीर्थंकर को अचेल धर्म का और मध्यवर्ती बाईस तीर्थंकरों को सचेल-अचेल धर्म का प्रतिपादक कहा गया है। यद्यपि उत्तराध्ययन स्पष्टतया पार्श्व के धर्म को 'सचेल' अथवा सान्तरोत्तर (संतरुत्तर) ही कहता है सचेल-अचेल नहीं। 'मध्यवर्ती तीर्थंकरों के शासन में भी अचेल मुनि होते थे', बृहत्कल्पभाष्य की यह स्वीकारोक्ति उसकी सम्प्रदाय निरपेक्षता की ही सूचक है। यद्यपि दिगम्बर और यापनीय परम्परा श्वेताम्बर मान्य आगमों एवं आगमिक व्याख्याओं के इन कथनों को मान्य नहीं करते हैं, किन्तु हमें श्वेतांबर आगमों के इन कथनों में सत्यता परिलक्षित होती है, क्योंकि अन्य ऐतिहासिक स्रोतों से भी इन कथनों की बहुत कुछ पुष्टि हो जाती है।

यहाँ हमारा उद्देश्य सम्प्रदायगत मान्यताओं से ऊपर उठकर मात्र प्राचीन ऐतिहासिक साक्ष्यों के आधार पर ही इस समस्या पर विचार करना है। अतः इस परिचर्चा में हम परवर्ती अर्थात् साम्प्रदायिक मान्यताओं के दृढ़ीभूत होने के बाद के ग्रंथों को आधार नहीं बना रहे है।

महावीर से पूर्ववर्ती तीर्थंकरों में मात्र ऋषभ, अरिष्टनेमि और पार्श्व के कथानक

ही ऐसे हैं, जो ऐतिहासिक महत्त्व के हैं। यद्यपि इनमें भी ऋषभ और अरिष्टनेमि के कथानक प्रागैतिहासिक काल के हैं। इन दोनों के जीवनवृत्त के सम्बन्ध में जैन एवं जैनेतर स्रोतों से भी जो सामग्री उपलब्ध होती है वह ईसा की प्रथम शती के पूर्व की नहीं है।

वेदों एवं ब्राह्मण-ग्रंथों में व्रात्यों एवं वातरशना मुनियों के जो उल्लेख हैं, उनसे इतना तो अवश्य फलित होता है कि प्रागैतिहासिक काल में नग्न अथवा मलिन एवं जीर्णवस्त्र धारण करने वाले श्रमणों की एक परम्परा अवश्य थी। सिन्धुघाटी-सभ्यता की महोन-जो-दड़ो एवं हड़प्पा से जो नग्न योनियों के अंकन वाली सीलें प्राप्त हुई हैं उनसे भी इस तथ्य की ही पुष्टि होती है कि नग्न एवं मलिन वस्त्र धारण करने वाले श्रमणों/योगियों/व्रात्यों की एक परम्परा प्राचीन भारत में अस्तित्व रखती थी। उस परम्परा के अग्र-पुरुष के रूप में ऋषभ या शिव को माना जा सकता है। किन्तु यह भी ध्यातव्य है कि इन सीलों में उस योगी को मुकुट और आभूषणों से युक्त दर्शाया गया है जिससे उसके नग्न निर्ग्रन्थ मुनि होने के सम्बन्ध में बाधा आती है। ये अंकन श्वेतांबर तीर्थंकर मूर्तियों से आंशिक साम्यता रखते हैं, क्योंकि वे अपनी मूर्तियों को आभूषण पहनाते हैं।

अर्हत् पार्श्व का सचेलक कल्प

अर्हत पार्श्व के सम्बन्ध में जो सूचनाएँ हमें उपलब्ध हैं उनमें भी प्राचीनता की दृष्टि से ऋषिभाषित (लगभग ई. पू. चौथी-पाँचवी शती), सूत्रकृतांग (लगभग तीसरी-चौथी शती), उत्तराध्ययन (ई. पू. दूसरी शती),आचारांग द्वितीय श्रुतस्कन्ध (ई. पू. दूसरी शती) एवं भगवती (ई. पू. दूसरी शती से लेकर ईसा की दूसरी शती तक) के उल्लेख महत्त्वपूर्ण हैं। इनमें भी ऋषिभाषित और सूत्रकृतांग में पार्श्व की वस्त्र सम्बन्धी मान्यताओं की स्पष्ट जानकारी प्राप्त नहीं होती। उत्तराध्ययन का तेईसवाँ अध्ययन ही एकमात्र ऐसा आधार है जिसमें महावीर के धर्म को अचेल एवं पार्श्व के धर्म को सचेल या सांतरुत्तर कहा गया है। इससे यह स्पष्ट है कि वस्त्र के सम्बन्ध में महावीर और पार्श्व की परम्पराएँ भिन्न थीं। उत्तराध्ययन की प्राचीनता निर्विवाद है और उनके कथन को अप्रामाणिक नहीं माना जा सकता। पुनः निर्युक्ति, भाष्य आदि परवर्ती आगमिक व्याख्याओं से भी इसी तथ्य की पुष्टि होती है। अतः इस कथन की सत्यता में सन्देह करने का कोई स्थान शेष नहीं रहता है। किन्तु पार्श्व की परम्परा के द्वारा मान्य 'सांतरुत्तर' शब्द का क्या अर्थ है- यह विचारणीय है। सांतरुत्तर शब्द का अर्थ परवर्ती श्वेतांबर आचार्यों ने विशिष्ट, रंगीन एवं बहुमूल्य वस्त्र किया है।

उत्तराध्ययन की टीका में नेमिचन्द्र सूरि लिखते हैं- सान्तर अर्थात् वर्धमान स्वामी की अपेक्षा परिणाम और वर्ण में विशिष्ट तथा उत्तर अर्थात् महामूल्यवान् होने से प्रधान, ऐसे वस्त्र जिस परम्परा में धारण किये जायें वह धर्म सान्तरोत्तर है। किन्तु सान्तरोत्तर (संतरुत्तर) शब्द का यह अर्थ समुचित नहीं है। वस्तुतः जब श्वेताम्बर आचार्य अचेल का अर्थ कुत्सितचेल या अल्पचेल करने लगे तो यह स्वाभाविक था कि सान्तरोत्तर का अर्थ विशिष्ट, महामूल्यवान रंगीन वस्त्र किया जाय, ताकि अचेल के परवर्ती अर्थ में और संतरुत्तर के अर्थ में किसी प्रकार से संगति स्थापित की जा सके। किन्तु संतरुत्तर का यह अर्थ शाब्दिक व्युत्पत्ति की दृष्टि से उचित नहीं है। संतरुत्तर के वास्तविक अर्थ को आचार्य शीलांक ने अपनी आचारांग टीका में स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है। ज्ञातव्य है कि संतरुत्तर शब्द उत्तराध्ययन के अतिरिक्त आचारांग के प्रथम श्रुतस्कन्ध में भी आया है। आचारांग में इस शब्द का प्रयोग उन निर्ग्रन्थ मुनियों के संदर्भ में हुआ है, जो दो वस्त्र रखते थे। उसमें तीन वस्त्र रखने वाले मुनियों के लिये कहा गया है कि हेमन्त के बीत जाने पर एवं ग्रीष्म ऋतु के आ जाने पर यदि किसी भिक्षु के वस्त्र जीर्ण हो गये हों तो वह

उन्हें स्थापित कर दे अर्थात् छोड़ दे और सांतरोत्तर अथवा अल्पचेल (ओमचेल) अथवा एकशाटक अथवा अचेलक हो जायें। यहाँ संतरुत्तर की टीका करते हुए शीलांक कहते हैं कि अन्तर सहित है उत्तरीय (ओढ़ना) जिसका, अर्थात् जो वस्त्र को आवश्यकता होने पर कभी ओढ़ लेता है और कभी पास में रख लेता है।

पं. कैलाशचन्द्रजी ने संतरुत्तर की शीलांक की उपरोक्त व्याख्या से यह प्रतिफलित करना चाहा है कि पार्श्व के परम्परा के साधु रहते तो नग्न ही थे, किन्तु पास में वस्त्र रखते थे, जिसे आवश्यकता होने पर ओढ़ लेते थे। किन्तु पंडितजी की यह व्याख्या युक्तिसंगत नहीं है क्योंकि संतरुत्तर से नग्नता किसी भी प्रकार फलित नहीं होती है। वस्तुतः संतरुत्तर शब्द का प्रयोग आचारांग में तीन वस्त्र रखने वाले साधुओं के संदर्भ में हुआ है और उन्हें यह निर्देश दिया गया है कि ग्रीष्म ऋतु के आने पर वे एक जीर्ण-वस्त्र को छोड़कर संतरुत्तर अर्थात् दो वस्त्र धारण करने वाले हो जायें। अतः संतरुत्तर होने का अर्थ अन्तरवासक और उत्तरीय ऐसे दो वस्त्र रखना है। अन्तरवस्त्र आजकल का Underwear अर्थात् गुह्यांग को ढकने वाला वस्त्र है। उत्तरीय शरीर के ऊपर के भाग को ढकने वाला वस्त्र है। 'संतरुत्तर' की शीलांक की यह व्याख्या भी हमें यही बताती है कि उतरीय कभी ओढ़ लिया जाता था और कभी पास में रख लिया जाता था, क्योंकि गर्मी में सदैव उत्तरीय ओढ़ा नहीं जाता था। अतः संतरुत्तर का अर्थ कभी सचेल हो जाना और कभी वस्त्र को पास में रखकर अचेल हो जाना नहीं है। यदि संतरुत्तर होने का अर्थ कभी सचेल और कभी अचेल (नग्न) होना होता तो फिर अल्पचेल और एकशाटक होने की चर्चा इसी प्रसंग में नहीं की जाती । तीन वस्त्रधारी साधु एक जीर्ण वस्त्र का त्याग करने पर सांतरुत्तर होता है। एक जीर्ण वस्त्र का त्याग और दूसरे जीर्ण वस्त्र के जीर्ण भाग को निकालकर अल्प आकार का बनाकर रखने पर अल्पचेल, दोनों जीर्ण वस्त्रों का त्याग करने पर एकशाटक अथवा ओमचेल और तीनों वस्त्रों का त्याग करने पर अचेल होता है। वस्तुतः आज भी दिगम्बर परम्परा का क्षुल्लक सान्तरोत्तर है और ऐकल एकशाटक तथा मुनि नग्न (अचेल) होता है। अतः पार्श्व की सचेल संतरुत्तर परम्परा में मुनि दो वस्त्र रखते थे-अधोवस्त्र और उतरीय आवश्यक-तानुसार शीतकाल आदि में ओढ़ लिया जाता था और ग्रीष्मकाल में अलग रख दिया जाता था।

अर्हत् वर्धमान के समय की स्थिति

आचारांग के नवें उपधानश्रुत नामक अध्याय में महावीर का जीवनवृत्त वर्णित है। ऐतिहासिक दृष्टि से महावीर की जीवन-गाथा के सम्बन्ध में इससे प्राचीन एवं प्रामाणिक अन्य कोई सन्दर्भ हमें उपलब्ध नहीं है। आचारांग द्वितीय श्रुतस्कन्ध, कल्पसूत्र, भगवती और बाद के सभी महावीर के जीवन चरित्र सम्बन्धी ग्रंथ इससे परवर्ती हैं और उनमें महावीर के जीवन के साथ जुड़ी अलौकिकताएँ यही सिद्ध करती हैं कि वे महावीर की जीवन-गाथा का अतिरंजित चित्र ही उपस्थित करते हैं। इसलिये महावीर के जीवन के सम्बन्ध में जो भी तथ्य हमें उपलब्ध हैं, वे प्रामाणिक रूप में आचारांग के प्रथम श्रुतस्कन्ध के इसी उपधानश्रुत में उपलब्ध हैं। इसमें महावीर के दीक्षित होने का जो विवरण है उससे यह ज्ञात होता है कि वे एक वस्त्र लेकर दीक्षित हुए थे और लगभग एक वर्ष के कुछ अधिक समय के पश्चात् उन्होंने उस वस्त्र का भी परित्याग कर दिया और पूर्णतः अचेल हो गये। महावीर के जीवन की यह घटना ही वस्त्र के सम्बन्ध में सम्पूर्ण जैन परम्परा के दृष्टिकोण को स्पष्ट कर देती है। इसका तात्पर्य इतना ही है कि महावीर ने अपनी साधना का प्रारम्भ सचेलता से किया, किन्तु कुछ ही समय पश्चात् उन्होंने पूर्ण अचेलता को ही अपना आदर्श माना। परवर्ती आगम ग्रंथों में एवं उनकी व्याख्याओं में महावीर के एक वर्ष पश्चात् वस्त्र-त्याग करने के सन्दर्भ में अनेक प्रवाद या मान्यतायें प्रचलित हैं। यापनीय ग्रंथ भगवती आराधना और श्वेताम्बर आगमिक व्याख्याओं में इन प्रवादों या मान्यताओं का उल्लेख है। यहाँ हम उन प्रवादों में न जाकर केवल इतना ही बता देना पर्याप्त समझते हैं कि प्रारम्भ में महावीर ने वस्त्र लिया था और बाद में वस्त्र का परित्याग कर दिया। वह वस्त्र-त्याग किस रूप में हुआ यह अधिक महत्त्वपूर्ण नहीं है।

यदि हम महावीर के समकालीन अन्य श्रमण-परम्पराओं की वस्त्र-ग्रहण सम्बन्धी अवधारणाओं पर विचार करें तो हमें ज्ञात होता है कि उस युग में सवस्त्र और निर्वस्त्र दोनों प्रकार की श्रमण परम्पराएँ प्रचलित थीं। उनमें से पार्श्व के सम्बन्ध में उत्तराध्ययन और उसके परवर्ती साहित्य में जो कुछ सूचनाएँ उपलब्ध हैं, उन सबसे एक मत से पार्श्व की परम्परा, सवस्त्र परम्परा सिद्ध होती है। स्वयं उत्तराध्ययन का तेईसवाँ अध्ययन इस बात का साक्षी है कि पार्श्व की परम्परा सचेल परम्परा थी। इसी प्रकार बौद्ध परम्परा भी सचेल थी। दूसरी ओर आजीवक सम्प्रदाय पूर्णतः अचेलता का प्रतिपादक था। यह सम्भव है कि महावीर ने अपने

वंशानुगत पार्श्वापत्यीय परम्परा के प्रभाव से एक वस्त्र ग्रहण करके अपनी साधना यात्रा प्रारंभ की हो। कल्पसूत्र में उनके दीक्षित होते समय आभूषण-त्याग का उल्लेख है वस्त्र त्याग का नहीं। यहाँ यह भी ज्ञातव्य है कि महावीर उत्तर विहार के वैशाली जनपद में शीत ऋतु के प्रथम-मास (मार्गशीर्ष) में दीक्षित हुए थे। उस क्षेत्र की भयंकर सर्दी को ध्यान में रखकर परिवार के लोगों के अति आग्रह के कारण सम्भवतः महावीर ने दीक्षित होते समय एक वस्त्र स्वीकार किया हो। मेरी दृष्टि में इसमें भी पारिवारिक आग्रह ही प्रमुख कारण रहा होगा। महावीर ने सदैव ही परिवार के वरिष्ठजनों को सम्मान दिया। यही कारण रहा कि माता-पिता के जीवित रहते उन्होंने प्रव्रज्या नहीं ली। पुनः बड़े भाई के आग्रह से दो वर्ष और गृहस्थावस्था में रहे। सम्भवतः शीत ऋतु में दीक्षित होते समय भाई या परिजनों के आग्रह से उन्होंने वह एक वस्त्र लिया हो। सम्भव है कि विदाई की उस बेला में परिजनों के इस छोटे से आग्रह को ठुकराना उन्हें उचित न लगा हो। किन्तु उसके बाद उन्होंने कठोर साधना का निर्णय लेकर उस वस्त्र का उपयोग शरीरादि ढकने के लिये नहीं करूँगा, ऐसा निश्चय किया और दूसरे वर्ष के शीतकाल की समाप्ति पर उन्होंने उस वस्त्र का भी परित्याग कर दिया। आचारांग से इन सभी तथ्यों की पुष्टि होती है। उसके पश्चात् वे आजीवन अचेल ही रहे, इस तथ्य को स्वीकार करने में श्वेताम्बर, यापनीय और दिगम्बर तीनों में से किसी को भी कोई विपत्ति नहीं है। तीनों ही परम्पराएँ एक मत से यह स्वीकार करती है कि महावीर अचेल धर्म के ही प्रतिपालक और प्रवक्ता थे। महावीर का सचेल दीक्षित होना भी स्वैच्छिक नहीं था। वस्त्र उन्होंने लिया नहीं, अपितु उनके कंधे पर डाल दिया गया था। यापनीय आचार्य अपराजितसूरि ने इस प्रवाद का उल्लेख किया है- वे कहते हैं कि यह तो उपसर्ग हुआ, सिद्धान्त नहीं। आचारांग में उनके वस्त्र ग्रहण के 'अनुधर्म' कहा गया है, अर्थात् यह परम्परा का अनुपालन मात्र था। हो सकता है कि उन्होंने मात्र अपनी कुल-परम्परा अर्थात् पार्श्वापत्य परम्परा का अनुसरण किया हो। श्वेताम्बर आचार्य उसकी व्याख्या में इन्द्र द्वारा प्रदत्त देवदुष्य वस्त्र ग्रहण करने की बात कहते हैं। यह मात्र परम्परागत विश्वास है, इस सम्बन्ध में कोई प्राचीन उल्लेख नहीं है। आचारांग के प्रथम श्रुतस्कन्ध का उपधानश्रुत मात्र वस्त्र-ग्रहण की बात कहता है। वह वस्त्र इन्द्र द्वारा प्रदत्त देवदुष्य था, ऐसा उल्लेख नहीं करता। मेरी दृष्टि में इस 'अनुधर्म' में 'अनु' शब्द का अर्थ वही है जो अणउव्रत में 'अनु' शब्द का है अर्थात् आंशिक त्याग। वस्तुतः महावीर का लक्ष्य तो पूर्ण अचेलता का था,

किन्तु प्रारम्भ में उन्होंने वस्त्र का आंशिक त्याग ही किया था। जब एक वर्ष की साधना से उन्हें यह दृढ़ विश्वास हो गया कि वे अपनी काम-वासना पर पूर्ण विजय प्राप्त कर चुके हैं और दो शीतकालों के व्यतीत हो जाने से उन्हें यह अनुभव हो गया कि उनका शरीर उस शीत को सहने में पूर्ण समर्थ है, तो उन्होंने वस्त्र का पूर्ण त्याग कर दिया। ज्ञातव्य है कि महावीर ने दीक्षित होते समय मात्र सामायिक चारित्र ही लिया था, महाव्रतों का ग्रहण नहीं किया था। श्वेताम्बर आगमों का कथन है कि सभी तीर्थङ्कर एक देवदुष्य लेकर सामायिक चरित्र की प्रतिज्ञा से ही दीक्षित होते हैं। यह इसी तथ्य को पुष्ट करता है कि सामायिक चारित्र से दीक्षित होते समय एक वस्त्र ग्रहण करने की परम्परा रही होगी।

निष्कर्ष यह है कि महावीर की साधना का प्रारम्भ सचेलता से हुआ किन्तु उसकी परिनिष्पत्ति अचेलता में हुई। महावीर की दृष्टि में सचेलता अणुधर्म था और अचेलता मुख्य धर्म था। महावीर द्वारा वस्त्र ग्रहण करने में उनके कुल धर्म अर्थात् पार्श्वापत्य परम्परा का प्रभाव हो सकता है किन्तु पूर्ण अचेलता का निर्णय या तो उनका स्वतःस्फूर्त था या फिर आजीवक परम्परा का प्रभाव। यह सत्य है कि महावीर पार्श्वापत्य परम्परा से प्रभावित रहे हैं और उन्होंने पार्श्वापत्य परम्परा के दार्शनिक सिद्धान्तों को ग्रहण भी किया है, किन्तु वैचारिक दृष्टि से पार्श्वापत्यों के निकट होते हुए भी आचार की दृष्टि से वे उनसे सन्तुष्ट नहीं थे। पार्श्वापत्यों के शिथिलाचार के उल्लेख और उसकी समालोचना जैनधर्म की सचेल और अचेल दोनों परम्पराओं के साहित्य में मिलती है। यहि कारण था कि महावीर ने पार्श्वापत्यों की आचार-व्यवस्था में व्यापक सुधार किये।

अचेलकता और यापनिय संप्रदाय

यापनीय परम्परा का एक प्राचीन ग्रंथ भागवती आराधना है। इसमें दो प्रकार के लिंग बताये गये हैं-1. उत्सर्गलिंग (अचेल) और 2. अपवादलिंग (सचेल)। आराधनाकार स्पष्ट रूप से कहते हैं कि संलेखना ग्रहण करते समय उत्सर्गलिंगधारी अचेल श्रमण का तो उत्सर्गलिंग अचेलता ही होता है, अपवाद-लिंगधारी सचेल श्रमण का भी यदि लिंग प्रशस्त है तो उसे भी उत्सर्गलिंग अर्थात् अचेलकत्व ग्रहण करना चाहिये। टीकाकार अपराजित सूरि ने यहाँ उत्सर्गलिंग का अर्थ स्पष्ट करते हुए सकल परिग्रह त्याग रूप अचेलकत्व के ग्रहण को ही उत्सर्गलिंग कहा है। इसी प्रकार अपवाद की व्याख्या करते हुए कारण सहित परिग्रह को अपवादलिंग कहा है। अगली गाथा की टीका में उन्होंने स्पष्ट रूप से सचेललिंग को अपवादलिंग कहा है। इसके अतिरिक्त आराधनाकार शिवार्य एवं टीकाकार अपराजित ने यह भी स्पष्ट किया है कि जिनका पुरुष-चिह्न अप्रशस्त हो उर्थात् लिंग चर्मरहित हो, अतिदीर्घ हो, अण्डकोष अतिस्थूल हो तथा लिंग बार-बार उत्तेजित होता हो तो उन्हें सामान्य दशा में तो अपवादलिंग अर्थात् सचेललिंग ही देना होता है, किन्तु ऐसे व्यक्यियों को भी संलेखना के समय एकान्त में उत्सर्ग- लिंग अर्थात् अचेलकत्व प्रदान किया जा सकता है। किन्तु उसमें सभी अपवाद-लिंगधारियों को संलेखना के समय अचेललिंग ग्रहण करना आवश्यक नहीं माना गया है। आगे वे स्पष्ट लिखते हैं कि जिनके स्वजन महान् सम्पत्तिशाली, लज्जा शील और मिथ्यादृष्टि अर्थात् जैनधर्म को नहीं मानने वाले हों, ऐसे व्यक्तियों के लिये न केवल सामान्य दशा में अपितु संलेखना के समय भी अपवादलिंग अर्थात् सचेलता ही उपयुक्त होता है।

इस समग्र चर्चा से स्पष्टतः यह फलित होता है कि यापनीय सम्प्रदाय उन व्यक्तियों को, जो समृद्धिशाली परिवारों से हैं, जो लज्जालु है तथा जिनके परिजन मिथ्यादृष्टि है अथवा जिनके पुरुषचिन्ह अर्थात् लिंग चर्मरहित हैं, अतिदीर्घ है, अण्डलोष स्थूल है एवं लिंग बार-बार उत्तेजित होता है, को अपवादिक लिंग धारण करने का निर्देश करता है। इस प्रकार वह यह मानता है कि उपर्युक्त विशिष्ट परिस्थितियों में व्यक्ति सचेल लिंग धारण कर सकता है। अतः हम कह सकते हैं कि यापनीय परम्परा यद्यपि अचेलकत्व पर बल देती थी और यह भी मानती थी कि समर्थ साधक को अचेललिंग ही धारण करना चाहिए किन्तु उसके साथ साथ वह यह मानती थी कि आपवादिक स्थितियोंमें सचेल लिंग भी धारण किया जा

सकता है। यहाँ उसका श्वेताम्बर परम्परा से स्पष्ट भेद यह है कि जहाँ श्वेताम्बर परम्परा जिनकल्प का विच्छेद बताकर अचेललिंग का निषेध कर रही थी, वहाँ यापनीय परम्परा समर्थ साधक के लिये यह युग में अचेलता का समर्थन करती है। यहाँ श्वेताम्बर परम्परा वस्त्र-ग्रहण को सामान्य नियम या उत्सर्ग मार्ग मानने लगी वहाँ यापनीय-परम्परा उसे अपवाद मार्ग के रूप में ही स्वीकार करती रही, अतः उसके अनुसार आगमों में जो वस्त्र-पात्र सम्बन्धी निर्देश हैं, वे मात्र आपवादिक स्थितियों के हैं। दुर्भाग्य से मुझे यापनीय ग्रन्थों में इस तथ्य का कहीं स्पष्ट निर्देश नहीं मिला कि आपवादिक लिंग में उन्हें कितने वस्त्र या पात्र रखे जा सकते थे।

यापनीय ग्रंथ भगवती आराधना[1] की टीका में यापनीय आचार्य अपराजित सूरि लिखते हैं वे चेल (वस्त्र) का ग्रहण, परिग्रह का उपलक्षण है, अतः समस्त प्रकार के परिग्रह का त्याग ही आचेलक्य है। आचेलक्य के लाभ या समर्थन में आगे वे लिखते हैं-

1. अचेलकत्व के कारण त्याग धर्म (दस धर्मों में एक धर्म) में प्रवृत्ति होती है।
2. जो अचेल होता है, वही अकिंचन धर्म के पालन में तत्पर होता है।
3. परिग्रह (वस्त्रादि) के लिये हिंसा (आरम्भ) में प्रवृत्ति होती है, जो अपरिग्रही है, वही हिंसा (आरम्भ) नहीं करता है। अतः पूर्ण अहिंसा के पालन के लिये अचेलता आवश्यक है।
4. परिग्रह के लिये ही झूठ बोला जाता है। बाह्य और आभ्यन्तर परिग्रह के अभाव में झूठ बोलने का कोई कारण नहीं होता, अतः अचेल-मूनि सत्य ही बोलता है।
5. अचेल में लाघव भी होता है।
6. अचेलधर्म का पालन करने वाले का अदत्त का त्याग भी सम्पूर्ण होता है क्योंकि परिग्रह की इच्छा होने पर ही बिना दी हुई वस्तु ग्रहण करने में प्रवृत्ति होती है।
7. परिग्रह के निमित्त कषाय (क्रोध) होता है, अतः परिग्रह के अभाव में क्षमा भाव रहता है।

---

1. भगवती आराधना, विजयोदया टीका, गाथा 423, सं. कैलाशचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री, जैन संस्कृति संरक्षण संघ, शोलापुर, 1938, पृ. 324

8. अचेल को सुन्दर या सम्पन्न होने का मद भी नहीं होता, अतः उसमें आर्जव (सरलता) धर्म भी होता है।

9. अचेल में माया (छिपाने की प्रवृत्ति) नहीं होती, अतः उसके आर्जव (सरलता धर्म भी होता है।

10. अचेल शीत, उष्ण, दश, मच्छर, आदि परीषहों को सहता है, अतः उसे घोर तप भी होता है।

संक्षेप में अचेलकत्व के पालन में सभी दस श्रमण धर्मों एवं पंच महाव्रतों का पालन होता है।

पुनः अचेलकत्व की प्रशंसा करते हुए वे लिखते हैं–

1. अचेलता से शुद्ध संयम का पालन होता है, पसीने, धूल और मैल से युक्त वस्त्र में उसी योनि वाले और उसके आश्रय से रहने वाले और उसके आश्रय से रहने वाले त्रस जीव तथा स्थावर जीव उत्पन्न होते हैं। वस्त्र धारण करने से उन्हें बाधा भी उत्पन्न होती है। जीवों से संसक्त वस्त्र धारण करने वाले के द्वारा उठने, बैठने, सोने, वस्त्र को फाड़ने, काटने, बाँधने, धोने, कूटने, धूप में डालने से जीवों को बाधा (पीड़ा) होती है, जिससे महान् असंयम होता है।

2. अचेलता से इन्द्रियों पर विजय प्राप्त होती है। जिस प्रकार सर्पों से युक्त जंगल में व्यक्ति बहुत सावधान रहता है उसी प्रकार जो अचेल होता है वह इन्द्रियों (कामवासना) पर विजय प्राप्त करने में पूर्णतया सावधान रहता है क्योंकि ऐसा नहीं करने पर शरीर में विकार (कामोत्तेजना) उत्पन्न होने पर लज्जित होना पड़ता है।

3. अचेलता का तीसरा गुण कषायरहित होना है, क्योंकि वस्त्र के सद्भाव में उसे चोरों से छिपाने के लिये मायाचार करना होता है। वस्त्र होने पर मेरे पास सुन्दर वस्त्र है, ऐसा अहंकार भी हो सकता है, वस्त्र के छीने जाने पर क्रोध तथा उसकी प्राप्ति में लोभ भी हो सकता है जबकि अचेलक में एसे दोष उत्पन्न नहीं होते हैं।

4. सवस्त्र होने पर सुई, धागा, वस्त्र आदि की खोज में तथा उसके सीने, धोने, प्रतिलेखना आदि करने मं ध्यान और स्वाध्याय का समय नष्ट होता है। अचेल को ध्यान–स्वाध्याय में बाधा नहीं होती।

5. जिस प्रकार बिना छिलके (आवरण) की धान्य नियम में शुद्ध होता है, किन्तु छिलके युक्त धान्य की शुद्धि नियम से नहीं होती, वह भाज्य होती है, उसी प्रकार जो अचेल है उसकी शुद्धि निश्चित होती है, किन्तु सचेल की शुद्धि भाज्य है (एवमचेलवतिनियमादेव भाज्य सचेले, भगवती आराधना-423 पर विजयोदया टीका, पृ. 322), अर्थात् सचेल की शुद्धि हो भी सकती है और नहीं भी हो सकती है। यहाँ दिगम्बर परम्परा और यापनीय परम्परा का अन्तर स्पष्ट है। दिगम्बर परम्परा यह मानती है कि सचेल मुक्त (शुद्ध) नहीं हो सकता, चाहे वह तीर्थङ्कर ही क्यों न हो जबकि यापनीय परम्परा यह मानती है कि स्त्री, गृहस्थ और अन्यतैर्थिक सचेल होकर भी मुक्त हो सकते हैं। यहाँ भाज्य (विकल्प) शब्द का प्रयोग यापनीयों की उदार और अनेकान्तिक दृष्टि का परिचायक है।
6. अचेलता में राग-द्वेष का अभाव होता है। राग-द्वेष बाह्य द्रव्य के आलम्बन से होता है। परिग्रह के अभाव में आलम्बन का अभाव होने से राग-द्वेष नहीं होते, जबकि सचेल को मनोज्ञ वस्त्र के प्रति राग-भाव हो सकता है।
7. अचेलक शरीर के प्रति उपेक्षा भाव रखता ह, तभी तो वह शीत और ताप के कष्ट सहन करता है।
8. अचेलता में स्वावलम्बन होता है और देशान्तर गमन में किसी की सहायता की अपेक्षा नहीं होती। जिस प्रकार पक्षी अपने पंखों के सहारे चल देता है, वैसे ही वह भी प्रतिलेखन (पीछी) लेकर चल देता है।
9. अचेलता में चित्त-विशुद्धि पर्कट करने का गुण है-लँगोटी आदि से ढँकने से भाव-शुद्धि का ज्ञान नहीं होता है।
10. अचेलता में निर्भयता है, क्योंकि चोर आदि का भय नहीं रहता।
11. सर्वत्र विश्वास भी अचेलता का गुण है। न तो वह किसी पर शंका करता है और न कोई उस पर शंका करता है।
12. अचेलता में प्रतिलेखना का अभाव होता है। चौदह प्रकार का परिग्रह रखने वालों को जैसी प्रतिलेखना करनी होती है वैसी अचेल को नहीं करनी होती।
13. सचेल को लपेटना, छोड़ना, सीना, बाँधना, धोना, रंगना आदि परिकर्म

करने होते हैं जबकि अचेल को ये परिकर्म नहीं करने होते।

14. तीर्थङ्करों के अनुरूप आचरण करना (जिनकल्प का आचरण) भी अचेलता का एक गुण है। क्योंकि सहनन और बल से पूर्ण सभी तीर्थङ्कर अचेल थे और भविष्य में भी अचेल ही होंगे। जिनप्रतिमा और गणधर भी अचेल होते हैं और उनके शिष्य भी उन्हीं की तरह अचेल होते हैं। जो सवस्त्र है वह जिन के अनुरूप नहीं है, अर्थात् जिनकल्प का पालन नहीं करता है।

15. अचेल ही निर्ग्रन्थ कहला सकता है। यदि अपने शरीर को वस्त्र से वेष्टित करके भी अपने को निर्ग्रन्थ कहा जा सकता है, तो फिर अन्य परम्परा के साधु निर्ग्रन्थ क्यों नहीं कहे जायेंगे अर्थात् उन्हें भी निर्ग्रन्थ मानना होगा।

इस प्रकार हम देखते हैं कि यापनीय परम्परा स्पष्ट रूप से अचेलकत्व की समर्थक है। किन्तु उनके सामने एक समस्या यह थी कि वे आज श्वेताम्बर परम्परा में स्वीकृत उन आगमों की माथुरी वाचना को मान्य करते थे, जिनमें वस्त्र-पात्रादि ग्रहण करने के स्पष्ट उल्लेख थे। अतः उनके समक्ष दो प्रश्न थे-एक ओर अचेलकत्व का समर्थन करना और दूसरी ओर आगमिक उल्लेखों की अचेलकत्व के सन्दर्भ में सम्यक् व्याख्या करना। अपराजित सूरि ने इस सम्बन्ध में भगवती आराधना की विजयोदया टीका में जो सम्यक् दृष्टिकोण प्रस्तुत किया है वह अचेलकत्व के आदर्श के सम्बन्ध में यापनीयों की यथार्थ दृष्टि का परिचायक है।

अपराजित ने सर्वप्रथम आगमों के उन सन्दर्भों को प्रस्तुत किया है, जिनमें वस्त्र-पात्र सम्बन्धी उल्लेख हैं, फिर उनका समाधान प्रस्तुत किया है। वे लिखते हैं- 'आचारप्रणिधि' अर्थात् दशवैकालिक[2] के आठवें अध्याय में कहा गया है कि पात्र और कम्बल की प्रतिलेखना करनी चाहिए। यदि पात्रादि नहीं होते तो उनकी प्रतिलेखना का कथन क्यों किया जाता ? पुनः आचारांग[3] के 'लोक-विचय' नामक दूसरे अध्ययन के पाँचवें उद्देशक में कहा गया है कि प्रतिलेखन (पडिलेहण), पादप्रोछन (पायपुच्छन), अवग्रह (उग्गह), कटासन (कडासण),

2. धुवं च पडित्मेहेज्जा जोगसा पायकंबलं।
सेज्जमुच्चार भूमि च संथारं अदुवासणं।।
दशवैकालिक, 8/17, नवसुत्ताणि, सं. युवाचार्य महाप्रज्ञ, जैन विश्वभारती, लाडनूँ, 1967, पृ. 68

3. आचारांग, 1/5/89, सं. युवाचार्य मधुकर मुनि, आगम प्रकाशन समिति, व्यावर।

चटाई आदि की याचना करे। पुनः उसके 'वस्त्रैषणा'[4] अध्ययन में कहा गया है कि जो लज्जाशील है वह एक वस्त्र धारण करे, दूसरा प्रतिलेखना हेतु रखे। जुगित (देस-विशेष) में दो वस्त्र धारण करे और तीसरा प्रतिलेखना हेतु रखे, यदि (शीत) परीषह सहन नहीं हो तो तीन वस्त्र धारण करे और चौथा प्रतिलेखना हेतु रखे। पुनः उसके पात्रैषणा[5] में कहा गया है कि लज्जाशील, जुंगित अर्थात् जिसके लिंग आदि हीनाधिक हो तथा पात्रादि रखने वाले के लिये वस्त्र रखना कल्पता है। पुनः उसमें कहा गया है तुम्बी का पात्र, लकड़ी का पात्र अथवा मिट्टी का पात्र आदि जीव, बीजादि से रहित हो तो ग्राह्य है। यदि वस्त्र-पात्र अथवा मिट्टी का पात्र यदि जीव, बीजादि से रहित हो तो ग्राह्य है। यदि वस्त्र-पात्र ग्राह्य नहीं होते तो फिर ये सूत्र आगम में क्यों आते? पुनः आचारांग[6] के 'भावना' नामक अध्ययन में कहा गया है कि भगवान् एक वर्ष तक चीवरधारी रहे, उसके बाद अचेल हो गये। साथ ही सूत्रकृतांग[7] के 'पुण्डरीक' नामक अध्ययन में कहा गया है कि भिक्षु, वस्त्र और पात्र के लिये धर्मकथा न कहे। निशीथ[8] में कहा गया है कि जो भिक्षु अखण्ड-वस्त्र और कम्बल धारण करता है उसे मास-लघु (प्रायश्चित्त का एक प्रकार) प्रायश्चित

4. अ) एसेहिरिमणे सेगं वत्थं वा धारेज्ज पडिलेहणगं विदियं तत्थ एसे जुग्गि देसे दुवे वत्थाणि धारिज्ज पडिलेहणगं तदियं।
   ब) जे णिग्गंथे तरुणे जुगवं बलवं अप्पायंके विरसंघयणे, से एगं वत्थं धारेज्जा, णो बितियं।
5. अ) हिरिमणे वा जुग्गिदे चावि अण्णगे वा तस्स णं कप्पदि वत्थादिकं पादचारित्तए इति।
   – वही, गाथा 423, पृ. 324
   ब) जे निग्गंथे तरुणे जुगवं बलवं अप्पायंके थिरसंघयणे, से एगं पायं धारेज्जा, णो बीयं।
   – आचारांगसूत्र, आचारचूला, 2/6/1/2.
6. संवच्छरं साहित्यं मासं, जं ण रिक्कासि वत्थगं भगवं।
   अचेलए ततो चाई, तं वोसज्ज वत्थमणगारे ।। –आचारांग, 1/9/1/4
7. अ) ण कहेज्जो धम्मकहं वत्थपत्तादिहेदुमिति।
   सूत्रकृतांग, पंडरीक अध्ययन, उद्धृत भगवती आराधना, विजयोदया टीका, गाथा 423, पृ. 366.
   ब) णो पाणस्स (पायस्स) हेउं धम्ममाईक्खेज्जा। णो वत्थस्स हेउं धम्ममाइक्खेज्जा।
   – सूत्रकृताङ्ग, 2/1/68, पृ. 366
8. अ) कसिणाइं वत्थकंबलाइं जो भिक्खू पडिग्गहिदि आपज्जदि मासिगं लहुगं।
   निशीथसूत्र, 2/23, उद्धृत भगवती आराधना, विजयोदया टीका, गाथा 423, पृ. 324
   ब) जे भिक्खू कसिणाइं वत्थाइं धरेति, धरेतं वा सातिज्जति।
   निशीथसूत्र, 2/23, उद्धृत भगवती आराधना, विजयोदया टीका, गाथा 423, पृ. 324

आता है। इस प्रकार आगम में वस्त्र-ग्रहण की अनुज्ञा होने पर भी अचेलता का कथन क्यों किया जाता है? इसका समाधान करते हुए स्वयं अपराजितसूरि कहते हैं[9] कि आगम में कारण की अपेक्षा से आर्यिकाओं को वस्त्र की अनुज्ञा है, यदि भिक्षु लज्जालु है अथवा उसकी जननेन्द्रिय त्वचारहित हो या अण्डकोष लम्बे हों अथवा वह परीषह (शीत) सहन करने में अक्षम हो तो उसे वस्त्र धारण करने की अनुज्ञा है। आचारांग[10] में ही कहा गया है कि संयमाभिमुख स्त्री-पुरुष दो प्रकार के होते हैं-सर्वश्रमणागत और नो-सर्वश्रमणागत। उनमें सर्वश्रमणागत स्थिरांग वाले पाणि-पात्र भिक्षु को परिलेखन के अतिरिक्त एक भी वस्त्र धारण करना या छोड़ना नहीं कल्पना है। बृहत्कल्पसूत्र[11] में भी कहा गया है कि लज्जा के कारण अंगों के ग्लानियुक्त होन पर देह के जुंगित (वीभत्स) होने पर अथवा परीषह (शितपरीषह) सहन करने में असमर्थ होने पर वस्त्र धारण करे। पुनः आचारांग[12] में यह भी कहा गया है यदि ऐसा जाने की शीतऋतु (हेमन्त) समाप्त हो गयी है तो जीर्ण वस्त्र प्रतिस्थापित कर दे अर्थात् उनका त्याग कर दे। इस प्रकार (आगमों में) कारण की अपेक्षा से वस्त्र का ग्रहण कहा है। जो उपकरण कारण की अपेक्षा से ग्रहण किया जाता है उसके ग्रहण करने की विधि और गृहीत उपकरण का त्याग अवश्य कहा जाता है। अतः आगम में वस्त्र-पात्र की जो चर्या बतायी गयी है वह कारण की अपेक्षा से अर्थात् आपवादिक है।

---

9. भगवती आराधना, विजयोदया टीका, गाथा 423, पृ. 324.

10. भगवती आराधना में उल्लिखित प्रस्तुत सन्दर्भ वर्तमान आचारांग में अनुपलब्ध है। उसमें मात्र स्थिरांग मुनि के लिये एक वस्त्र और एक पात्र से अधिक रखने की अनुज्ञा नहीं है। सम्भवतः यह परिवर्तन परवर्ती-काल में हुआ है।

11. अ) हिरिहेतुकं व होइ देहदुगुंछंति देहे जुग्गिदगे।
धारेज्ज सिया वत्थं परिस्सहाणं च ण विहासीति।।

– कल्पसूत्र से उद्धृत भगवती आराधना,
विजयोदया टीका, गाथा 423, पृ. 324.

ब) प्रस्तुत सन्दर्भ उपलब्ध बृहत्कल्पसूत्र में प्राप्त नहीं होता है। यद्यपि वस्त्र धारण करने के इन कारणों का उल्लेख स्थानांगसूत्र, स्थान 3 में निम्न रूप में मिलता है-कप्पति णिग्गंथीण वा तओ पायाइं धारित्तए वा परिहरित्तए वा, तंजहा – जंगिए – भंगिए, खोमिए। ठाणांग, 3/345.

12. आचारांग, शीलांकवृत्ति, 1/7/4, सूत्र 209, पृ. 251.

इस प्रकार हम देखते हैं कि यापनीय संघ मात्र आपवादिक स्थिति में वस्त्र-ग्रहण को स्वीकार करता था और उत्सर्ग मार्ग अचेलता को ही मानता था। आचारांग के 'भावना' नामक अध्ययन में महावीर के एक वर्ष तक वस्त्र युक्त होने के उल्लेख को वह विवादास्पद मानता था। अपराजित ने इस सम्बन्ध में विभिन्न प्रवादों का उल्लेख भी किया है[13]-जैसे कुछ कहते हैं कि वह छः मास में काँटे, शाखा आदि से छिन्न हो गया। कुछ कहते हैं कि एक वर्ष के कुछ अधिक होने पर उस वस्त्र को खण्डलक नामक ब्राह्मण ने ले लिया। कुछ कहते हैं कि वह वस्त्र वायु से गिर गया और भगवान् ने उसकी उपेक्षा कर दी। कोई कहते हैं कि विलम्बनकारी ने उसे जिन के कंधे पर रख दिया आदि। इस प्रकार अनेक विप्रतिपत्तियों के कारण अपराजित की दृष्टि में इस कथन में कोई तथ्य नहीं है। पुनः अपराजित ने आगम से अचेलता के समर्थक अनेक सूत्र भी उद्धृत किये हैं,[14] यथा-''वस्त्रों का त्याग कर देने पर भिक्षु पुनः वस्त्र-ग्रहण नहीं करता तथा अचेल होकर जिन रूप धारण करता है। भिक्षु यह नहीं सोचे कि सचेलक सुखी होता है और अचेलक दुःखी होता है, अतः मैं सचेलक हो जाऊँ। अचेलक को कभी शीत बहुत सताती है, फिर भी वह धूप का विचार न करे। मुझ निरावरण के पास कोई छादन नहीं है, अतः मैं अग्नि का सेवन कर लूँ ऐसा भी नहीं सोचे'' इसी प्रकार उन्होंने उत्तराध्ययन के 23वें अध्याय की गाथायें उद्धृत करके यह बताया कि पार्श्व का धर्म सान्तरोत्तर था। महावीर का धर्म तो अचेलक ही था। पुनः दशवैकालिक में मुनि को नग्न और मुण्डित कहा गया है। इससे भी आगम में अचेलता ही प्रतिपाद्य है- यह सिद्ध होता है।

इस समग्र चर्चा के आधार पर यापनीय संघ का वस्त्र सम्बन्धी दृष्टिकोण स्पष्ट हो जाता है। उनके इस दृष्टिकोण को संक्षेप में निम्न रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है-

1. श्वेताम्बर परम्परा, जो जिनकल्प के विच्छेद की घोषणा के द्वारा वस्त्र

---

13. अ) भगवती आराधना विजयोदया टीका, पृ. 325-326, तपलनीय आवश्यकचूर्णि, भाग 1, पृ. 276
    ब) आवश्यकसूत्रं (उत्तरभागं) चूर्णि सहित ऋषभदेव, केशरीमल श्वेतांबर संस्था, रतलाम, 1929
14. भगवती आराधना विजयोदया टीका, पृ. 325-326,
    पालित्रिपिटक, कन्कोर्डेन्स, पृ. 345

आदि के सम्बन्ध में महावीर की वैकल्पिक व्यवस्था को समाप्त करके सचेलकत्व को ही एक मात्र विकल्प बना रही थी, यह बात यापनीयों को मान्य नहीं थी।

2. यापनीय यह मानते थे कि जिनकल्प का विच्छेद सुविधावादियों की अपनी कल्पना है। समर्थ साधक इन परिस्थितियों में या इस युग में भी अचेल रह सकता है। उनके अनुसार अचेलता (नग्नता) ही जिन का आदर्श मार्ग है, अतः मुनि को अचेल या नग्न ही रहना चाहिये।

3. यापनीय आपवादिक स्थितियों में ही मुनि के लिये वस्त्र की ग्राह्यता को स्वीकार करते थे, उनकी दृष्टि में ये आपवादिक स्थितियाँ निम्नलिखित थीं–

    क) राज परिवार आदि अतिकुलीन घराने के वयक्ति जन साधारण के समक्ष नग्नता छिपाने के लिये वस्त्र रख सकते हैं।

    ख) इसी प्रकार वे व्यक्ति भी जो अधिक लज्जाशील है अपनी नग्नता को छिपाने के लिये वस्त्र रख सकते हैं।

    ग) वे नवयुवक मुनि जो अभी अपनी काम–वासना को पूर्णतः विजित नहीं कर पाये हैं और जिन्हें लिंगोत्तेजन आदि के कारण निर्ग्रन्थ संघ में और जनसाधारण में प्रवाद का पात्र बनना पड़े, अपवाद रूप में वस्त्र रख सकते हैं।

    घ) वे व्यक्ति जिनके लिंग और अण्डकोष विद्रूप हैं, वे संलेखना के अवसर को छोड़कर यावज्जीवन वस्त्र धारण करके ही रहें।

    च) वे व्यक्ति जो शीतादि परीषह सहन करने में सर्वथा असमर्थ है, अपवाद रूप में वस्त्र रख सकते हैं।

    छ) वे मुनि जो अर्श, भगन्दर आदि की व्याधि से ग्रस्त हों, बीमारी की स्थिति में वस्त्र रख सकते हैं।

4. जहाँ तक साध्वियों का प्रश्न था यापनीय संघ में स्पष्ट रूप से उन्हें वस्त्र रखने की अनुज्ञा थी। यद्यपि साध्वियाँ भी एकान्त में संलेखना के समय जिन–मुद्रा अर्थात् अचेलता धारण कर सकती थी।

इसी प्रकार यापनीयों का आदर्श अचेलकत्व ही रहा, किन्तु अपवाद मार्ग में

उन्होंने वस्त्र-पात्र की ग्राह्यता भी स्वीकार की। वे यह मानते हैं कि कषाय त्याग और रागात्मकता को समाप्त करने के लिये सम्पूर्ण परिग्रह का त्याग, जिसमें वस्त्र-त्याग भी समाहित है, आवश्यक है, किन्तु वे दिगम्बर परम्परा के समान एकान्त रूप से यह घोषणा नहीं करते हैं कि वस्त्रधारी चाहे वह तीर्थङ्कर ही क्यों नहीं हो, मुक्त नहीं हो सकता। वे सवस्त्र में भी आध्यात्मिक विशुद्धि और मुक्ति की भजनीयता अर्थात् सम्भवना को सवीकार करते हैं। इस प्रकार वे अचेलकत्व सम्बन्धी मान्यता के सन्दर्भ में दिगम्बर परम्परा के निकट खड़े होकर भी अपना भिन्न मत रखते हैं। वे अचेलकत्व के आदर्श को स्वीकार करके भी सवस्त्र मुक्ति की सम्भावना को स्वीकार करते हैं। पुनः मुनि के लिये अचेलकत्व का पुरजोर समर्थन करके भी वे यह नहीं कहते हैं कि जो आपवादिक स्थिति में वस्त्र धारण कर रहा है, वह मुनि नहीं है। यहाँ हमारी वर्तमान दिगम्बर परम्परा मात्र लँगोटीधारी एलक, एक चेलक या दो वस्त्रधारी क्षुल्लक को मुनि न मानकर उत्कृष्ट श्रावक ही मानती है, वहाँ यापनीय परम्परा ऐसे व्यक्तियों की गणना मुनि वर्ग के अन्तर्गत ही करती है। अपराजित आचारांग का एक सन्दर्भ देकर, जो वर्तमान आचारांग में नहीं पाया जाता है, कहते हैं कि ऐसे व्यक्ति नो-सर्वश्रमणागत है। तात्पर्य यह है कि सवस्त्र मुनि अंशतः श्रमण भाव को प्राप्त हैं। इस प्रकार यापनीय अपवादिक स्थियों में परिस्थितिवश वस्त्र-ग्रहण करने वाले श्रमणों को श्रमण ही मानते हैं, गृहस्थ नहीं। यद्यपि यापनीय और दिगम्बर दोनों ही अचेलकत्व के समर्थक हैं, फिर भी वस्त्र के सम्बन्ध में यापनीयों का दृष्टिकोण अपेक्षाकृत उदार एवं यथार्थवादी रहा है। आपवादिक स्थिति में वस्त्र-ग्रहण, सचेल की मुक्ति की सम्भावना, सचेल स्त्री और पुरुष दोनों में श्रमणत्व का मुनित्व का सद्भाव-उन्हें अचेलता के प्रश्न पर दिगम्बर परम्परा से भिन्न करता है, जबकि आगमों में वस्त्र-पात्र के उल्लेख मात्र आपवादिक स्थिति के सूचक हैं और जिनकल्प का विच्छेद नहीं है, यह बात उन्हें श्वेताम्बरों से अलग करती थी।

जिनकल्प एवं स्थविरकल्प

अचेलकत्व एवं सचेलकत्व सम्बन्धी इस चर्चा के प्रसंग में जिनकल्प और स्थविरकल्प की चर्चा भी अप्रासंगिक नहीं होगी। श्वेताम्बर मान्य आगमों एवं आगमिक व्याख्याओं में जिनकल्प और स्थविरकल्प की जो चर्चा मिलती है, उससे यह फलित होता है कि प्रारम्भ में अचेलता अर्थात् नग्नता को जिनकल्प का

प्रमुख लक्षण माना गया है, किन्तु कालान्तर में जिनकल्प शब्द की व्याख्या में क्रमशः परिवर्तन हुआ है। जिनकल्पी की कम से कम दो उपधि मुखवस्त्रिका और रजोहरण मानी गई किन्तु ओघनिर्युक्ति के लिये जिनकल्प शब्द का सामान्य अर्थ तो जिन के अनुसार आचरण करना है। जिनकल्प की बारह उपधियों का भी उल्लेख है। कालान्तर में श्वेताम्बर आचार्यों ने इन साधुओं को जिनकल्पी कहा जो गच्छ का परित्याग करके एकाकी विहार करते थे तथा उत्सर्ग मार्ग के ही अनुगामी होते थे। वस्तुतः जब श्वेताम्बर परम्परा में अचेलता का पोषण किया जाने लगा तो जिनकल्प की परिभाषा में भी अन्तर हुआ। निशीथचूर्णि में जिनकल्प और स्थविरकल्प की परिभाषा में भी अन्तर हुआ। निशीथचूर्णि में जिनकल्प और स्थविरकल्प की परिभाषा देते हुए कहा है कि जिनकल्प में मात्र उत्सर्ग मार्ग का ही अनुसरण किया जाता है। अतः उसमें कल्पप्रतिसेवना और दर्पप्रतिसेवना दोनों का अर्थात् अपवाद के अवलम्बन का ही निषेध है जबकि स्थविरकल्प में उत्सर्ग और अपवाद दोनों ही मार्ग स्वीकार किये गए हैं। यद्यपि अपवाद मार्ग में भी मात्र कल्पप्रतिसेवना को ही मान्य किया गया है। दर्पप्रतिसेवना को किसी भी स्थिति में मान्य नहीं किया गया है।

श्वेतांबर परम्परा में मान्य आगमों में प्रारम्भ में तो भगवान् महावीर के समान नग्नता को ग्रहण कर, कर-पात्र में भोजन ग्रहण करते हुए अपवाद रहित जो मुनि धर्म की कठिन साधना की जाती है, उसे ही जिनकल्प कहा गया है किन्तु कालान्तर में इस परिभाषा में परिवर्तन हुआ।

यापनीय परम्परा में जिनकल्प का उल्लेख हमें भगवती आराधना और उसकी विजयोदया टीका में मिलता है।उसमें कहा गया है कि 'जो राग-द्वेष और मोह को जीत चुके हैं, उपसर्ग को सहन करने में समर्थ हैं, जिन के समान एकाकी विहार करते हैं, वे जिनकल्पी कहलाते हैं।' क्षेत्र आदि की अपेक्षा से विवेचन करते हुए उसमें आगे कहा गया है कि जिनकल्पी सभी कर्मभूमियों और सभी कालों में होते हैं। इसी प्रकार चारित्र की दृष्टि से वे सामायिक और छेदोपस्थापनीय चारित्र वाले होते हैं। वे सभी तीर्थंकरों के तीर्थ में पाए जाते हैं और जन्म की अपेक्षा से 30 वर्ष की वय और मुनि-जीवन की अपेक्षा से 19 वर्ष की दीक्षा-पर्याय वाले होते हैं। ज्ञान की दृष्टि से नव-दस पूर्व ज्ञान के धारी होते हैं। वे तीनों शुभ लेश्याओं से युक्त होते हैं और वज्रऋषभ नाराच-संहनन के धारक होते हैं।[15]

पू. अपराजित सूरि के अतिरिक्त जिनकल्प और स्थविरकल्प का उल्लेख यापनीय आचार्य साकटायन के स्त्रीमुक्तिप्रकरण में भी है।[16] इससे यह प्रतीत होता है कि जिनकल्प की अवधारणा श्वेताम्बर एवं यापनीय दोनों परम्पराओं में लगभग समान ही थी। मुख्य अन्तर यह है कि यापनीय परम्परा में जिनकल्पी के द्वारा वस्त्र-ग्रहण का कोई उल्लेख नहीं है, क्योंकि उसमें मुनि के लिये वस्त्र-पात्र की स्वीकृति केवल अपवाद मार्ग में है, उत्सर्ग मार्ग में नहीं और जिनकल्पी उत्सर्ग मार्ग का अनुसरण करता है। अतः यापनीय परम्परा के अनुसार वह किसी भी स्थिति में वस्त्र-पात्र नहीं रख सकता। वह अचेल ही रहता है और पाणि-पात्री होता है, जबकि श्वेताम्बर परम्परा के मान्य ग्रंथों के अनुसार जिनकल्पी अचेल भी होता है और सचेल भी। वे पाणि-पात्री भी होते हैं और सपात्र भी होते हैं। ओघनिर्युक्ति (गाथा 78-79) में उपधि (सामग्री) के आधार पर जिनकल्प के भी अनेक भेद किये गए हैं।

इसी प्रकार निशीथभाष्य में भी जिनकल्पी की उपाधि को लेकर विस्तृत विवरण उपलब्ध होता है। उसमें सर्वप्रथम यह बताया गया है कि पात्र की अपेक्षा से जिनकल्पी दो प्रकार के होते हैं-पाणिपात्र अर्थात् बिना पात्र वाले और पात्रधारी। इसी प्रकार वस्त्र की अपेक्षा से भी उसमें जिनकल्पियों के दो प्रकार बताए गए हैं-अचेलक और सचेलक। पुनः उनकी उपधि की चर्चा करते हुए कहा गया है कि अचेलक और पाणिपात्रभोजी जिनकल्पी होते हैं, वे रजोहरण और मुखवस्त्रिका ये दो उपकरण रखते हैं। जो सपात्र और सवस्त्र होते हैं उनकी उपधि की संख्या कम से कम तीन और अधिक से अधिक बारह होती है। स्थविरकल्पी की जिन चौदह उपधियों का उल्लेख किया गया है उसमें मात्रक और चूलपट्टक ये दो उपधि जिनकल्पी नहीं रखते हैं।[17]

यापनीयों की दूसरी विशेषता यह है कि वे श्वेताम्बरों के समान जिनकल्प का

15. भगवती आराधना, भाग 1 (विजयोदया टीका) गाथा 157 की टीका, पृ. 205
16. अ) शाकटायन व्याकरणम् (स्त्री-मुक्ति प्रकरणम्)-7, सम्पादक पं. शम्भुनाथ त्रिपाठी, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, वाराणसी, 1971, पृ. 1
    ब) बृहत्कल्पसूत्र 6/9, सम्पादक मधुकर मुनि, ब्यावर 1992.
17. अ) बृहत्कल्पसूत्र 9/20.
    ब) पञ्चकल्पभाष्य (आगमसुधासिन्धु), 816-822.

विच्छेद नहीं मानते। उनके अनुसार समर्थ साधक सभी कालों में जिनकल्प की धारणा कर सकते हैं, जबकि श्वेताम्बरों के अनुसार जिनकल्पी केवल तीर्थंकर की उपस्थिति में ही होता है। यद्यपि यापनीयों की यह मान्यता में उनकी ही व्याख्यानुसार एक अन्तर्विरोध आता है, क्योंकि उन्होंने अपनी जिनकल्पी की व्याख्या में यह माना है कि जिनकल्पी नौ-दस पूर्वधारी और प्रथम संहनन के धारक होते हैं। चूँकि उनके अनुसार भी वर्तमान में पूर्व ज्ञान और प्रथम संहनन (वज्र-ऋषभ-नाराच-संहनन) का अभाव है, अतः जिनकल्प सर्वकालों में कैसे सम्भव होगा। इन दो-तीन बातों को छोड़कर यापनीय और श्वेताम्बर परम्परा में जिनकल्प के सम्बन्ध में विशेष अन्तर नहीं है। विशेष जानकारी के लिये भगवती-आराधना की टीका और बृहत्कल्पभाष्य के तत्सम्बन्धी विवरणों को देखा जा सकता है।

ज्ञातव्य है कि दिगम्बर-ग्रंथ गोम्मटसार और यापनीय ग्रंथ भगवती-आराधना की टीका में जिनकल्प को लेकर एक महत्त्वपूर्ण अन्तर परिलक्षित होता है, वह यह कि जहाँ गोम्मटसार में जिनकल्पी मुनि को मात्र सामाजिक चारित्र माना गया है, वहाँ भगवतीआराधना में उनमें सामाजिक और छेदोपस्थापनीय ऐसे दो चारित्र माने गए हैं। वस्तुतः यह अन्तर इसलिये आया कि जब दिगम्बर परम्परा में छेदोपस्थापनीय चारित्र का अर्थ महाव्रतारोपण से भिन्न होकर प्रायश्चित्त रूप पूर्व दीक्षा पर्याय के छेद के अर्थ में लिया गया, तो जिनकल्पी में प्रायश्चित्त रूप छेदोपस्थापनीय चारित्र का निषेध मानना आवश्यक हो गया, क्योंकि जिनकल्पी की साधना निरपवाद होती है। हमें जिनकल्प और स्थविरकल्प का उल्लेख प्रायः श्वेताम्बर एवं यापनीय परम्परा में ही देखने को मिले हैं। दिगम्बर परम्परा में यापनीय प्रभावित ग्रंथों को छोड़कर प्रायः इस चर्चा का अभाव ही है।

आर्य शिवभूति से चला दिगम्बर संप्रदाय

स्थविरकल्प की जिस परिस्थिति का ऊपर उल्लेख किया गया है उसी परिस्थिति में मथुरा के निकटस्थ 'रहवीर'[1] नामक गाँव में रहकर आर्य कृष्ण के शिष्य शिवभूति ने फिर जिनकल्प की चर्चा खड़ी की और स्वयं जिनकल्पी बनकर चिरकाल से मुरझाये हुए जिनकल्प और स्थविरकल्प के मतभेद के अङ्कुर को नवपल्लवित किया।

पाठकों के ज्ञानार्थ हम आवश्यकमूलभाष्य और उसकी चूर्णि में कहा हुआ शिवभूति का वृत्तान्त ज्यों का त्यों यहाँ लिख देते हैं–

''महावीर को सिद्ध हुए छः सौ नौ वर्ष व्यतीत हुए तब रथवीरपुर में बोटिकों का दर्शन उत्पन्न हुआ। रथवीरपुर नगर था। वहाँ 'दीपक' नाम का उद्यान था। आर्य कृष्ण नाम के आचार्य वहाँ पधारे।

''वहाँ सहस्रमल्ल शिवभूति नामक एक आदमी रहता था। एक समय उसकी स्त्री ने अपनी सास से शिकायत करते हुए कहा–'वे नित्य आधी रात के समय आते हैं, तब तक मैं जागती हुई भूखी बैठी रहती हूँ। सास ने कहा–आज द्वार बंद कर सो जा, मैं जागूँगी। वह सो गई । आधी रात के समय उसने द्वार खटखटाया। तब माता ने फटकार कर कहा– इस समय जहाँ खुले द्वार दिखाई दे वहाँ चला जा।

---

1. 'रहवीर' गाँव कहाँ था, इसका श्वेतांबर ग्रंथों में कुछ भी खुलासा नहीं है, तथापि उसे हमने मथुरा के निकट बताया है। इसके दो कारण है–
   1. मथुरा के कंकाली टीले में से जैन श्वेतांबर परम्परा के आचार्य आर्य 'कण्ह' की एक अर्ध नग्न मूर्ति निकली है जो प्रायः विक्रम की द्वितीय शताब्दी के प्रारम्भ में निर्मित हुई थी। तथा मथुरा के आसपास और उसके पश्चिम प्रदेश में बहुत पूर्वकाल में 'कृष्ण गच्छ' अथवा 'कृष्णर्षि गच्छ' नाम से प्रसिद्ध श्वेताम्बराम्नाय का एक प्राचीन गच्छ भी प्रचलित हुआ था जो विक्रम की पन्द्रहवीं सदी तक चलता रहा। कालसाम्य का विचार करने पर हम समझते हैं कि वे मूर्तिवाले और गच्छ के आदिपुरुष वे ही आर्य कृष्ण होंगे जिनके शिष्य शिवभूति ने जिनकल्प का स्वीकार किया था।
   2. दिगम्बराचार्यों ने नियमपूर्वक शौरसेनी भाषा का सब से अधिक आदर किया है जो कि मथुरा के आसपास की प्राचीन काल की भाषा है। इससे भी हमारे अनुमान का समर्थन होता है कि दिगम्बर शाखा का मूल उद्भवस्थान वहीं शूरसेन देश है जिसकी राजधानी मथुरा थी।

वह लौट गया और तलाश करने पर साधुओं का उपाश्रय खुला पाया। उसने साधुओं को वन्दन करके कहा–मुझे प्रव्रज्या दीजिये। पर साधुओं ने उसकी प्रार्थना स्वीकार नहीं की। उसने स्वयं अपना लोच कर दिया, तब उसे साधु का वेष दिया गया और उसके साथ साधु वहाँ से चले गये।

''कालान्तर में साधु फिर वहाँ आये। राजा ने शिवभूति को एक बहुमूल्य कम्बल दिया। आचार्य ने कहा–साधुओं को इसकी क्या जरुरत है? तू ने यह क्यों लिया ? यह कहकर बगैर पूछे ही कंबल को फाड़ कर उसकी निषद्यायें (निशीथियें) कर दीं। इससे शिवभूति बहुत नाराज हुआ।

''एक दिन जिनकल्पिक साधुओं का वर्णन हो रहा था कि–'जिनकल्पि दो प्रकार के होते हैं – पाणिपात्र और पात्रधारी। इस समय शिवभूति ने पूछा–आजकल इतनी उपधि क्यों रखी जाती है? जिनकल्प क्यों नहीं किया जाता? आचार्य ने कहा–नहीं किया जा सकता। इस समय उसका विच्छेद हो गया है। शिवभूति बोला – विच्छेद कैसे हो जाय? मैं करता हूँ। परलोकार्थी को यही करना चाहिये। उपधि–परिग्रह क्यों रखना चाहिये? परिग्रह में कषाय, मूर्छा, भय आदि बहुत दोष हैं। शास्त्र में भी अपरिग्रहत्वही कहा है। जिनेश्वर भगवान भी अचेलक ही थे। इसलिये अचेलकता ही अच्छी है। गुरु ने कहा–तब तो शरीर का भी त्याग कर देना चाहिये, क्योंकि किसी को इसपर भी कषाय मूर्छादि हो जाते हैं। शास्त्र में अपरिग्रहत्व कहा है, पर उसका तात्पर्य इतना ही है कि साधु को धर्मोपकरण पर भी मूर्छा नहीं करनी चाहिये। जिन भी एकान्त अचेलक नहीं थे। शास्त्र में कहा है कि सभी जिनवर एक देदूष्य के साथ दीक्षित हुए थे। इस प्रकार स्थविरों ने शिवभूति को समझाया, पर कर्मोदय के वश वह वस्त्रों को छोड़कर चला गया। उत्तरा नामकी उसकी एक बहन थी। वह उद्यान स्थित शिवभूति के वंदनार्थ गयी और उसको देखकर उसने भी अपने वस्त्र छोड़ दिये। वह भिक्षार्थ गाँव में गई। उसे देखकर एक गणिका ने, यह सोचकर कि इसे देखकर लोग हम से भी विरक्त हो जायेंगे उसके उरःपर्देश पर एक वस्त्र बाँध दिया। यद्यपि उसकी इच्छा वस्त्र रखने की नहीं थी, पर शिवभूति ने कहा– 'रहने दे, यह तुझे देवता ने दिया है।'

'उसने कोंडकुण्ड[1] और वीर नामक दो शिष्य किये और तब से शिष्य परम्परा चली।

1. भाष्य का पाठ ''कोडिन्नकोट्टवीरा'' है जिसका चूर्णिकार ने 'कोडिन्न' और 'कोट्टवीर' इस प्रकार पदच्छेद किया है और इन्हें शिवभूति का शिष्य लिखा है, परन्तु हमारे विचार में

''बोटिक शिवभूति और उत्तरा ने अपनी तर्क बुद्धि से रथवीरपुर में इस मिथ्यादर्शन को उत्पन्न किया है।

''बोटिक शिवभूति से बोडियलिङ्ग की उत्पत्ति हुई और कोडिन्नकोट्टवीर परम्परास्पर्शक उत्पन्न हुए।''

दिगम्बर सम्प्रदाय का उत्पत्ति विषयक श्वेताम्बर ग्रंथों में यही मौलिक वृत्तान्त है। बाद में ग्रंथकारों ने जो कुछ भी इस विषय में लिखा है सब इसी वृत्तान्त के आधार पर लिखा गया है।

पञ्चकल्पचूर्णि में शिवभूति का नाम 'चण्डकर्ण' बताया है और वहाँ इसके पिता के सम्बन्ध में भी कुछ वृत्तान्त लिखा है। पाठकों के अवलोकनार्थ हम उसे भी यहाँ लिख देते हैं –

''राजा का एक शीर्षरक्षक (अङ्गरक्षक–एडीकांग) था। वह साधुओं के पास धर्म सुनकर श्रावक हो गया। उसकी वही आजीवका थी इसलिये उस तलवार को छोड़ काष्ठ की तलवार रखता। उसके मित्र ने राजा से कह दिया कि वह काष्ठ की तलवार रखता है। राजा ने उसे तलवार दिखाने को कहा। इस पर श्रावक ने सम्यग्दृष्टि देवता का स्मरण–नमस्कार करके तलवार खींची और म्यान से लोहे की तलवार निकली। राजा ने उस पुरुष की तरफ देखा तो वह सकुचा गया, तब श्रावक ने राजा के पैरों में पड़कर सत्य बात कह दी। उसे चंडकर्ण नाम का पुत्र था, जिसने दीक्षा लेकर बोटिकों को उत्पन्न किया।''

पिता का राजा का अंगरक्षक होना, उनकी सहस्रमल्ल और चण्डकर्ण जैसी उपाधियाँ और दीक्षा लेने के बाद राजा की तरफ से अमूल्य कम्बल की भेंट इत्यादि ऐसी बातें हैं कि शिवभूति के राजकर्मचारी होने और कुटुम्ब के अपमान से घर छोड़कर चले जाने की बात को सत्य मानने में कुछ भी संदेह नहीं रहता। साथ ही ऐसे राजमान्य मनुष्य को राजा की तरफ से मिली हुई भेंट के सम्बन्ध में गुरु का उपालम्भ और उस चीज का नाश कर देना, यह भी अवश्य अपमानजनक घटना

'कोडिन्नकोट्ट' यह कोण्डकुण्ड का अपभ्रंश है और 'वीर' यह वीरनन्दी, वीरसेन या इससे मिलते – जुलते नामवाले आचार्य का नाम है। भाष्य में इन्हें शिवभूति का शिष्य नहीं लिखा किन्तु 'परम्परास्पर्शक' (भाष्य के शब्द – परंपराफासमुप्पण्णा) लिखा है। इससे स्पष्ट है कि ये शिवभूति के दीक्षा–शिष्य नहीं, परम्परा शिष्य थे। अधिक प्रसिद्ध होने के कारण या दिगम्बर शाखा में महत्त्वपूर्ण कार्यकर होने के कारण भाष्यकार ने शिवभूति के अनन्तर इनका नामोल्लेख किया है।

है। इस घटना से उत्तेजित शिवभूति का गुरु से विरुद्ध होना, और वह भी वस्त्र के ही सम्बन्ध में, बिलकुल स्वाभाविक है।

शिवभूति ने आर्य कृष्ण से उपधि न रखने के सम्बन्ध में जो दलीलें की हैं उनका सार इतना है कि उपधि कषाय, मूर्छा और भय इत्यादि का कारण है। उन्होंने यह नहीं कहा कि उपधि रखने से मुक्ति ही नहीं होती। इसके विपरीत वे आर्या उत्तरा को वस्त्र रखने की सम्मति देते हैं, क्योंकि साधु को अचेलक होने के विषय में तो शास्त्र का आधार था पर स्त्री को वैसा करने के सम्बन्ध में कल्पाध्ययन की स्पष्ट निषेधाज्ञा थी। शिवभूति इस बात से अनभिज्ञ हों यह संभव नहीं था और इसिलीये उन्होंने उत्तरा को अचेलक न होने की आज्ञा दी थी।

यद्यपि शिवभूति ने वस्त्र-पात्र न रखने का उत्कृष्ट जिन कल्प स्वीकारा था तथापि आगे जाकर उन्हें अनुभव हुआ कि इस प्रकार का उत्कृष्ट मार्ग अधिक समय तक चलना कठिन है। अतएव उन्होंने साधुओं के आपवादिक लिङ्ग का भी स्वीकार किया। यह बात इस संप्रदाय के प्राचीन ग्रंथों से प्रमाणित होती है।

आचार्य आर्यशिव जो कि स्वयं हस्तभोजी थे अपने 'भगवतीआराधना' ग्रंथ में लिखते हैं-'जो औत्सर्गिक लिङ्ग में रहनेवाला हो उसके लिए तो वह है ही, पर आपवादिक लिङ्गवाले को भी संथारा लेने के समय औत्सर्गिक लिङ्ग (नग्नता) धारण करना श्रेष्ठ है।

''जिसको विहारचर्या में मानसिक, वाचिक और कायिक दोष निश्चितरूप से लगे हों वह भी संस्तारक के समय औत्सर्गिक लिङ्ग धारण कर ले।''

संस्तारक के समय कारण से विशेष आपवादिक लिङ्ग भी रह सकता है। इसके सम्बन्ध में वे कहते हैं-''यदि स्थान योग्य न हो, संस्तारक लेनेवाला महर्द्धिक या लज्जाशील हो, म्लेच्छ लोगों की बस्ती हो, स्वजन वहाँ विद्यमान हों तो आपवादिक लिङ्ग भी रह सकता है।''

''स्त्री भी परिमित उपधि रखती हुई उसके लिये जो औत्सर्गिक और आपवादिक लिङ्ग कहा है उसमें रहे।''

यहाँ पर यह भी बता देना चाहिये कि आर्य शिव अचेलकता, केशलोच, व्युत्सृष्टशरीरता और प्रतिलेखन इन चार बातों को औत्सर्गिक लिङ्गि कहते हैं। आपवादिक लिङ्ग में किन बातों की छूट होती थी, इसका यद्यपि उन्होंने खुलासा नहीं किया तथापि महर्द्धिक और लज्जाशील को अपवादिक लिङ्ग की छूट देने से

यह बात स्वयं सिद्ध हो जाती है कि इस आपवादिक लिङ्ग में वस्त्र की छूट अवश्य होती थी[1]। स्त्री को परित्त उपधि के उपरान्त औत्सर्गिक अथवा आपवादिक लिङ्ग रखने की आज्ञा से यह भी सिद्ध है कि पहले दिगम्बर सम्प्रदायवाले धार्मिक योग्यता के नाते स्त्री और पुरुषों में कुछ भी अन्तर नहीं मानते थे। यद्यपि स्त्री को सर्वथा नग्न रहने का निषेध था तथापि उनकी आत्मोन्नति को योग्यता पुरुषों से हीन नहीं मानी गई थी जैसा कि पिछले आचार्यों ने माना है। पिछले आचार्यों ने स्त्रियों में पंचम गुणस्थानक से आगे बढ़ने की योग्यता ही नहीं मानी, फिर वह चाहे मास-मास के उपवास करनेवाली और चारित्र पालनेवाली आर्या (साध्वी) ही क्यों न हो। पिछले दिगम्बर ग्रंथकारों के मत से वह उतनी ही आत्मोन्नति करेगी जितनी कि एक देशविरति गृहस्थ श्रावक कर सकता है, परंतु हम समझ सकते हैं कि भगवती-आराधनाकार आचार्य शिव आर्या और साधु की योग्यता में कोई अन्तर नहीं समझते थे। यही कारण है कि उन्होंने आर्याओं के मरण को 'बाल-पण्डित-मरण' न मानकर 'पण्डित-मरण' माना है।

---

1. दर्शनसार की चौबीसवीं गाथा की टीका में दिगम्बराचार्य श्री श्रुतसागरसूरि ने भी आपवादिक लिङ्ग में वस्त्रादि रखना ही स्वीकार किया-

''सहजुप्पण्णं रूवं, दट्ठुं जो मण्णए ण मच्छरिओ।

सो संजमपडिवण्णो, मिच्छादिट्ठी हवइ एसो।।24।।''

''टीका- मिच्छादिट्ठी हवइ एसो-मिध्यादृष्टिर्भवत्येषः। अपवादवेषं धरन्नपि मिथ्यादृष्टि-र्ज्ञातव्य इत्यर्थः। कोऽपवाद वेषः ? कलौ किल म्लेच्छादयो नग्नं दृष्ट्वोपद्रवं यतीनां कुर्वन्ति तेन मण्डपदुर्गे श्रीवसन्तकीर्तिना स्वामिना चर्यादिवेलायां तट्टीसादरादिकेन शरीरमाच्छाद्य चर्यादिकं कृत्वा पुस्तन्मुञ्चतीत्युपदेशः कृतः। संयमिनां इत्यपवादवेषः।तथा नृपादिवर्गोत्पन्नः परमवैराग्यवान् लिंगशुद्धिरहितः उत्पन्नमेहनपुटदोषः लज्जावान् वा शीता-द्यसहिष्णुवां तथा करोति सोऽप्यपवादलिंगः प्रोच्यते। उत्सर्गवेषस्तु नग्न एवेति ज्ञातव्यम्। सामान्योक्तो विधिरुत्सर्गः। विशेषोक्तो विधिरपवाद इति परिभाषणात्।''

(दर्शनप्राभृत टीका पृ. 21) उपर्युक्त टीका के पाठ में श्रुतसागर सूरि ने दो बातें कही हैं।

पहली यह कि पिछले समय में दिगम्बर भट्टारकों में जो वस्त्र पहनने की प्रवृत्ति चली उसका आरम्भ मांडवगढ़ में भट्टारक वसन्तकीर्ति से हुआ था।

दूसरी बात टीकाकार ने यह कही कि राजादिवर्ग का मनुष्य वैराग्यशील हो, जो लिंगशुद्धि रहित हो, जिसकी पुरुषेन्द्रिय विकृत हो अथवा जो लज्जाशील हो या ठंडी आदि सहन करने में असमर्थ हो वह वैसा कर सकता है, अर्थात् अपवाद लिंग रूप टाट (चटाई) वस्त्र आदि से अपनी लज्जा और शीत दूर कर सकता है।

यद्यपि प्राचीन दिगम्बराचार्यकृत ग्रंथों में श्रमण और आर्याओं की उपधि में क्या क्या उपकरण रहते थे, इसका कुछ निर्णय नहीं देखा जाता, तथापि उक्त आपवादिक लिङ्ग के विधान से और इसी ग्रन्थ के कतिपय अन्य लेखों से यह निश्चित है कि वे वस्त्र और पात्र रखते अवश्य थे, पर इस प्रवृत्ति को वे 'उत्सर्ग मार्ग' न कह कर 'अपवाद मार्ग' कहते थे।

पाठकों के विलोकनार्थ हम उन उल्लेखों को यहाँ अद्धृत करेंगे जिनसे कि दिगम्बर सम्प्रदाय में भी साधुओं के लिये पात्रों का रखना अनिवार्य ठहरता है।

साधु द्वारा किये जाने वाले कायिक विनय का वर्णन करते हुए शिवार्य कहते हैं-'आसन देना, उपकरण देना, उचित शरीर का स्पर्श करना (विश्राम के लिये पगचंपी वगैरह करना), समयोचित कार्य करना, भोजन लाना, संथारा करना, उपकरणों की प्रतिलेखना करना इत्यादि शरीर से साधुवर्ग का जो उपकार किया जाता है वह 'कायिक विनय है।'

भगवती आराधना की 310वीं गाथा में तो स्पष्ट रूप से आहार औषधादि द्वारा साधु अन्य साधु का वैयावृत्त्य करे ऐसा विधान किया है।

पाठकगण के विलोकनार्थ हम उस मूल गाथा को ही यहाँ उद्धृत कर देते हैं-

''सेज्जागासणिसेज्जा-उवधिपडिलेहणा उवगाहिदे।

आहारोसहवायण-विकिंचणुव्वत्तणादीया।।'' 310।।

अर्थात् निवासस्थान, आसन, उपधि और औपग्रहिक उपकरणों की प्रतिलेखना करना, आहार, औषध, वाचना देना, मलमूत्र आदि को बाहर परठना (फैकना), शरीर मर्दन आदि करना वैयावृत्त्य (सेवाबन्दगी) कहलाता है।

यही गाथा कुछ परिवर्तन के साथ वट्टकेरस्वामी के मूलाचार ग्रंथ में पञ्चाचाराधिकार में भी आती है, यहाँ उसके टीकाकार आचार्य वसुनन्दी लिखते हैं-'आहारेण-भिक्षाचर्यया, औषधेन-शुंठिपिप्पल्यादिकेन, शास्त्र-व्याख्यानेन, च्युतमलनिर्हरणेन, वन्दनया च, शय्यावकाशेन, निषद्योपधिना, प्रतिलेखनेन च पूर्वोक्तानामुपकारः कर्तव्यः। एतैस्ते प्रतिगृहीता आत्मीकृता भवन्तीति।'' (मूलाचार पृ. 308)

उसी भगवती आराधना की गाथा 665-668 में संलेखना करनेवाले साधु की सेवा संबंधी व्यवस्था बताते हुए शिवार्य कहते हैं-''लब्धिवान् और सरल

प्रकृतिक चार मुनि उसके योग्य निर्दोष आहार लावें तथा चार वैसा ही निर्दोष पानी लावें, चार मुनि क्षपक के लिये प्रस्तुत किये हुए आहार-पानी के द्रव्यों की सावधानी से रक्षा करें और चार वैयावृत्त्य कर मुनि क्षपक के मलमूत्र आदि को परठे (बाहर ले जाकर छोड़ें) और समय पर उपधि, शय्या संथारा आदि की प्रतिलेखना करें।''

इसी ग्रंथ की गाथा 692 में ग्रंथकार कहते हैं-'तेल और कसैले द्रव्य से क्षपक को बार-बार कुल्ले कराने चाहिए ताकि उसकी जीभ और कान बलवान् और मुख तेजस्वी हो।'

ये ही ग्रंथकार गाथा 702 और 703 में कहते हैं-''यदि क्षपक की इच्छा है तो उसकी समाधि के लिये सब प्रकार का आहार लाकर उसे खिलाना चाहिए और फिर एक-एक कम करते हुए पहले से आहार पर ले आना और क्रमशः भोजन का त्याग करवा कर उसे पानी पर ले आना चाहिये''।

मूलाचार के समाचाराधिकार की ''गच्छे वेज्जावच्चं'' इस 174वीं गाथागत 'वेज्जावच्च' शब्द की व्याख्या करते हुए वसुनन्दी श्रमणाचार्य लिखते हैं - ''वैज्जावच्चं-वैयावृत्त्यं कायिकव्यापाराहारादिभिरुपग्रहणम्।'' अर्थात् वैयावृत्त्य का अर्थ शारीरिक प्रवृत्ति और आहार आदि से उपकार करना है।

आचार्य वट्टकेर मूलाचार के समयसाराधिकार की 61वीं गाथा में कहते हैं - 'साधुओं को साध्वियों के उपाश्रय में ठहरना, बैठना, सोना, पढ़ना और आहार नीहार करना (भोजन करना और टट्टी जाना) नहीं चाहिये'।

प्रिय पाठकगण । जो आचार्य गुणाधिक उपाध्याय, तपस्वी, शिष्य, दुर्बल, समनोज्ञ, गण, कुल और संघ का आहार औषधादि से विनय वैयावृत्त्य करने की साधुओं को आज्ञा करते थे, क्षपक के लिये चार-चार साधुओं को आहार पानी लाने और मलमूत्र को दूर त्यागने के लिये नियत करने का विधान करते थे, उसको सब प्रकार का भोजन लाकर देने और तेल आदि के कुल्ले कराने की सलाह देते थे और जो आचार्य साधुओं के लिये साध्वियों के स्थान में आहार पानी करने का निषेध करते थे क्या उनके सम्बन्ध में भी यह कह सकते हैं कि वे पात्र रखने के विरोधी थे? हम जानते हैं कि वे स्वयं हाथों में भोजन करने वाले थे तथापि साधुओं को ऊपर मुजब उपदेश देते थे। उसका अर्थ यह है कि उनके समय में अपवादमार्ग से वस्त्र-पात्र जाते थे।

यदि ऐसा न होता तो इन पात्रसाध्य कार्यों के विधान का कुछ अर्थ ही नहीं होता और 'गृहस्थ के ही घर में साधु भोजन करे' ऐसा पहले एकान्त नियम होता तो साध्वी के उपाश्रय में आहार करने के निषेध की आवश्यकता ही नहीं पड़ती।

परिणाम

ऊपर कहा गया है कि शिवभूति ने प्रारम्भ में अपने आचरण से जिनकल्प का पुनरुद्धार करने का निश्च किया था, पर आगे जाने पर उन्हें अनुभव ने सिखाया कि वर्तमान समय में जिनकल्प को चलाना आसान नहीं है। एक व्यक्ति कैसा भी आचरण कर सकता है पर वैसे ही आचरणवालों की परम्परा जारी रखना सरल नहीं. परिणामस्वरूप अपने मार्ग को उन्होंने आचाराङ्गोंक्त मूल स्थविरमार्ग में परिगणित किया और इस उत्सर्गमार्ग को न पाल सके उनके लिये उसी सूत्र के अनुसार कुछ वस्त्र-पात्र रखने की व्यवस्थावाला अपवाद मार्ग भी नियत किया।

यद्यपि शिवभूति के सम्प्रदाय का उद्भव उत्तरापथ में हुआ था पर वहाँ उसका अधिक प्रचार नहीं हो सका। कारण स्पष्ट है। प्राचीन स्थविरसंघ का उन दिनों वहाँ पूर्ण प्राबल्य फैला हुआ था और मथुरा के आसपास के 96 गाँवों में तो जैन धर्म राजधर्म के रूप में माना जाता था। इस स्थिति में शिवभूति या उसके अनुयायियों का वहाँ टिकना बहुत कठिन था। इस कठिनाई के कारण उस सम्प्रदाय ने उधर से हटकर दक्षिणापथ की तरफ प्रयाण किया, जहाँ आजीवक संप्रदाय के प्रचार के कारण पहले ही नग्न साधुओं की तरफ जन-साधारण का सद्भाव था। वहाँ जाने पर इस सम्प्रदाय की भी अच्छी कदर हुई और धीरे-धीरे वह पगभर हो गया।

प्राचीन स्थविर परम्परा में प्रतिदिन शैथिल्य के भाव बढ़ रहे थे। बस्ती में रहना तो उन्होंने पहले ही शुरु कर लिया था, अब धीरे-धीरे उनमें चारित्रमार्ग की अन्य शिथिलताएँ भी प्रवेश कर रही थीं। यद्यपि सुविहित गीतार्थ व्यवस्था बनाये रखने के लिये बहुत कुल प्रयत्न कर रहे थे, शिथिलाचारियों का 'पासस्था' आदि नामों से परिचय दे उनके चेप से बचने के लिये वे साधुओं को उपदेश दे रहे थे, फिर भी निम्नगामी शैथिल्य-प्रवाह रोका नहीं जा सका। विक्रम की पाँचवीं और छठी सदी तक 'पासत्था' आदि नामों से पहचाने जाने वाले शिथिलाचारियों के गाँव-गाँव में अड्डे जमने लगे और उग्रविहारी सुविहितों की संख्या कम होने लगी। इस स्थिति से नवीन स्थविर (दिगम्बर) परम्परा ने पर्याप्त लाभ उठाया। परिमित वस्त्र-पात्र की छूट के कारण उनके यहाँ साधुओं की संख्या खूब बढ़ती गई और प्राचीनकालीन

नग्नतादि उत्कृष्ट क्रियाओं के कारण गृहस्थवर्ग भी प्रतिदिन उनकी तरफ झुकता गया। परिणाम यह हुआ कि विक्रम की पाँचवी सदी के आसपास जाकर इस परम्परा ने अपना स्वतंत्र संघ स्थापित कर दिया।

यद्यपि यह नया संप्रदाय तब तक उन्हीं जैन आगमों से अपना काम चलाया था, तथापि महावीर का गर्भापहार, उनका विवाह आदि अनेक बातें वह नहीं भी मानता था और इस कारण वह धीरे-धीरे अपना नया साहित्य निर्माण किये जाता था।

प्राचीन स्थविर परम्परा के अधिक साधुओं के शिथिल और चैत्यवासी हो जाने पर भी उसमें त्यागी सुविहित श्रुतधरों की भी कमी न थी। नवीन परम्परा की उत्कृष्टता अथवा उन्नति के कारण नहीं, पर उसके नये विचार और कतिपय सिद्धान्तभेद के कारण उन्होंने इसका फिर प्रतिवाद करना शुरु किया और परिणामस्वरूप दोनों परम्परावालों में तनातनी बढ़ने लगी। छठी सदी के विद्वान आचार्य कुन्दकुन्द[1], देवनन्दी वगैरह ने प्राचीन परम्परा से मजबूत मोरचा लिया।

---

1. आचार्य कुन्दकुन्द का समय हमने विक्रम की छठी सदी माना है। इसके अनेक कारण हैं, जिसमें से कुछ नीचे दिये जाते हैं-

    (1) कुन्दकुन्दाचार्य कृत पञ्चास्तिकाय की टीका में जयसेनाचार्य लिखते हैं कि यह ग्रंथ कुन्दकुन्दाचार्य ने शिवकुमार महाराज के प्रतिबोध के लिये रचा था। डॉ. पाठक के विचार से यह शिवकुमार ही कदम्बवंशी शिवमृगेश थे जो संभवतः विक्रम की छठी शताब्दी के व्यक्ति थे। अतएव इनके समकालीन कुन्दकुन्द भी छठी सदी के ही व्यक्ति हो सकते हैं।

    (2) प्रसिद्ध दिगम्बर जैन विद्वान् पं. नाथूराजमी प्रेमी ने नियमसार की एक गाथा खोज निकाली है, जिसमें आचार्य कुन्दकुन्द ने 'लोकविभाग' परमागम का उल्लेख किया है। यह 'लोकविभाग' ग्रंथ संभवतः सर्वनन्दी आचार्य की कृति है, जो कि वि. सं. 512 में रची गयी थी। इससे भी कुन्द-कुन्द छठी सदी के ग्रंथकार प्रतीत होते हैं।

    उपर्युक्त दो कारणों के अतिरिक्त कुन्दकुन्द के ग्रंथों में अनेक उल्लेख ऐसे हैं जो उनको विक्रम की पाँचवी सदी के बाद का ग्रंथकार सिद्ध करते हैं। उनमें से कुछ उल्लेख ये हैं-

    1. समय प्राभृत की गाथा 350 तथा 351 में कुन्दकुन्दाचार्य कहते हैं-''लोगों के विचार में देव, नारक, तिर्यंच और मनुष्य प्राणियों को विष्णु बनाता है, तब श्रमणों (जैन साधुओं) के मत में षट्निकाय के जीवों का कर्ता आत्मा है।''

        '' इस प्रकार लोक और श्रमणों के सिद्धान्त में कोई विशेष नहीं है। लोगों के मत में कर्ता 'विष्णु' है और श्रमणों के मत में 'आत्मा'। कहने की जरुरत नहीं है कि

पहले जो सूत्र, निर्युक्ति आदि प्राचीन आगमों को इनके पूर्वाचार्य मानते आये थे, इन्होंने उनका मानना भी अस्वीकार कर दिया और अपने लिये आचार, विचार

'विष्णु' को कर्तापुरुष माननेवाले 'वैष्णव' संप्रदाय की उत्पत्ति विष्णुस्वामी से ई. सं. की तीसरी शताब्दी में हुई थी। उनके सिद्धान्त ने खासा समय बीतने के बाद ही लोक सिद्धान्त का रूप धारण किया होगा, यह निश्चित है। इससे कहना पड़ेगा कि कुन्दकुन्द विक्रम की चौथी सदी के पहले के नहीं हो सकते।

2. कुन्दकुन्द ने 'बोधप्राभृत' की गाथा 6-8 और 10 में क्रमशः 'आयतन' 'चैत्यगृह' और 'प्रतिमा' की चर्चा की है। जहाँ तक हमने देखा है, इन बातों की चर्चा चैत्यवास के साथ सम्बन्ध रखती हुई पायी गई है। अतएव इन चर्चाओं से पाया जाता है कि कुन्दकुन्द का अस्तित्व-समय ''चैत्यवास' काल के पहले का नहीं हो सकता।

3. 'भावप्राभृत' की 149वीं गाथा में कुन्दकुन्द ने 'शिव' 'परमेष्ठि' 'सर्वज्ञ' 'विष्णु' 'चतुर्मुख' आदि कतिपय पौराणिक देवों के नामों का उल्लेख किया है। इससे भी जाना जाता है कि वे पौराणिक काल में हुए थे, पहले नहीं।

4. 'भावप्राभृत' की 162वीं गाथा में धर्म, अर्थ, काल और मोक्ष इन चार पुरुषार्थों का और 'मोक्षप्राभृत' की 4 थी गाथा में तथा 'रयणसार' की 134 से 145 पर्यन्त की गाथाओं में उन्होंने 'बाह्य' 'आभ्यन्तर' और 'पर' इन त्रिविध आत्माओं की चर्चा की है, जो विक्रम की पांचवीं सदी के बाद में प्रचलित होनेवाले विषय हैं।

5. 'लिंग प्राभृत' की गाथा 9-10-16 और 21वीं में साधुओं की आचार विषयक जिन शिथिलताओं की निंदा की है उनको देखने से यही मानना पड़ता है कि कुन्दकुन्द उस समय के व्यक्ति थे जब कि साधुओं में पर्याप्त शिथिलता आ गई थी। उनमें गृहस्थों के जैसी अन्य प्रवृत्तियों के उपरान्त जमीन जागीर लेने और खेतीवाड़ी कराने तक की शिथिलता प्रविष्ट हो गयी थी। यह समय निश्चित रूप से विक्रमीय पाँचवीं सदी के बाद का था।

6. 'रयणसार' की 18वीं गाथा में सात क्षेत्र में दान करने का उपदेश करने के उपरान्त उसी प्रकरण की गाथा 28वीं में कुन्दकुन्द कहते हैं- 'पंचमकाल में इस भारतवर्ष में यंत्र-मंत्र-तंत्र-परिचर्या (रेवा या खुशामद), पक्षपात और मीठे वचनों के ही कारण दान दिया जाता है, मोक्ष के हेतु नहीं।

इससे यह साबित होता है कि कुन्द-कुन्द उस समय के व्यक्ति थे जब कि इस देश में तांत्रिक मत का खूब प्रचार हो गया था और मोक्ष की भावना की अपेक्षा सांसारिक स्वार्थ और पक्षापक्षी का बाजार गर्म हो रहा था। पुरातत्त्ववेत्ताओं को कहने की शायद ही जरुरत होगी कि भारतवर्ष की उक्त स्थिति विक्रम की पाँचवी सदी के बाद में हुई थी।

और दर्शनविषयक स्वतंत्र साहित्य की रचना की जिसमें वस्त्र-पात्र रखने का एकान्त रूप से निषेध किया। यद्यपि इस ऐकान्तिक निषेध के कारण उन्हें स्त्रीमुक्ति

---

7. 'रयणसार' की गाथा 32वीं में जीर्णोद्धार, प्रतिष्ठा, जिनपूजा और तीर्थवन्दनविषयक द्रव्यभक्षण करनेवाले को नरक-दुःख का भोगी बताकर कुन्दकुन्द कहते हैं- ''पूजादानादि का द्रव्य हरनेवाला पुत्रकलत्रहीन दरिद्र, पंगु, गूंगा, बहरा और अन्धा होता है और चाण्डालादि कुल में जन्म लेता है।''

   इसी प्रकार अगली 33-36 वीं गाथाओं में पूजा और दानादि द्रव्य भक्षण करनेवालों को विविध दुर्गतियों के दुःखभोगी होना बतलाया है। इससे सिद्ध होता है कि कुन्दकुन्द के समय में देवद्रव्य और दान दिये हुए द्रव्यों की दुर्व्यवस्था होना एक सामान्य बात हो गई थी। मंदिरों की व्यवस्था में साधुओं का पूरा दखल हो चुका था और वे अपना आचार मार्ह छोड़कर गृहस्थोचित चैत्य कार्यों में लग चुके थे। जैन इतिहास से यह बात सिद्ध है कि विक्रम की पाँचवीं सदी से साधु चैत्यों में रहकर उनकी व्यवस्था करने लग गये थे और छठी से दसवीं सदी तक उनका पूर्व साम्राज्य रहा था। वे अपने अपने गच्छ-सम्बन्धी चैत्यों की व्यवस्था में सर्वाधिकारी के ढंग से काम करते थे। उस समय के सुविहित आचार्य इस प्रवृत्ति का विरोध भी करते थे, परंतु उनपर उसका कोई असर नहीं होता था। इस समय को श्वेताम्बर ग्रंथकारों ने 'चैत्यवासप्रवृत्तिसमय' के नाम से उद्घोषित किया है। यही समय दिगम्बर सम्प्रदाय में ''भट्टारकीय समय'' के नाम से पहचाना जाता है। आचार्य कुन्दकुन्द ने ठीक इसी समय की प्रवृत्तियों का खण्डन किया है। इससे यह सिद्ध होता है कि वे पाँचवीं सदी के पूर्व के व्यक्ति नहीं थे।

8. 'रयणसार' की 105 तथा 108 से 111 तक की गाथाओं में कुन्दकुन्द ने साधुओं की अनेक शिथिल प्रवृत्तियों का खण्डन किया है, जिनमें राजसेवा, ज्योतिषविद्या, मंत्रों से आजीवका, धनधान्य का परिग्रह, मकान, प्रतिमा, उपकरण आदि का मोह, गच्छ का आग्रह, वस्त्र और पुस्तक की ममता आदि बातों का खण्डन लक्ष्य देने योगय है। कहने की शायद ही जरुरत होगी कि उक्त खराबियाँ साधु समाज में छठी और सातवीं सदी में पूर्ण रूप से प्रविष्ट हो रही थीं। पाँचवी सदी में इनमें से बहुत कम प्रवृत्तियाँ साधुसमाज में प्रविष्ट होने पायी थी और विक्रम की तीसरी चौथी शताब्दी तक ऐसी कोई भी बात जैन निर्ग्रंथों में नहीं पायी जाती थी। इससे यह निस्संदेह सिद्ध होता है कि आचार्य कुन्दकुन्द विक्रम की पाँचवी शताब्दी के बाद के ग्रन्थकार हैं। यदि ऐसा न होता और दिगम्बर जैन पट्टावलियों के लेखानुसार वे विक्रम की प्रथम अथवा दूसरी सदी के ग्रंथकार होते तो छठी सदी की प्रवृत्तियों का उनके ग्रंथों में खण्डन नहीं होता।

9. कुन्दकुन्द ने अफने ग्रंथों में अनेक स्थान पर 'गच्छ' शब्द का प्रयोग किया है जो विक्रम की पाँचवी सदी के बाद का परिभाषित शब्द है। श्वेतांबरों के प्राचीन भाष्यों

और केवलिमुक्ति का भी निषेध करना पड़ा, क्योंकि स्त्रियों को सर्वथा अचेलक मानना अनुचित था और वस्त्रसहित रहते हुए उनकी मुक्ति मान लेने पर अपने वस्त्रधारी प्रतिस्पर्द्धियों की मुक्ति का निषेध करना असंभव था। इसी तरह केवली का कवलाहर मानने पर उसके लाने के लिये पात्र भी मानना पड़ता और इस दशा में पात्रधारी स्थविरों का खंडन नहीं करने पाते।

इन नये सिद्धान्तों की योजना से उन्हें अपनी परम्परागत आपवादिक लिङ्ग प्रवृत्ति को स्वयं उठा देना पड़ा, क्योंकि ऐसा किये बिना वे विरोधिपक्ष का सामना कर नहीं सकते थे।

कुन्दकुन्दाचार्य आदि के इन नये सिद्धान्तों से इस परम्परा को कुछ लाभ हुआ और कुछ हानि भी।

विक्रम की सातवीं शताब्दी के प्रारम्भ से दसवीं के अन्त तक के चार सौ वर्षों में दोनों स्थविर परम्पराओं में अनेक दिग्गज विद्वान् उत्पन्न हुए।

पहली परम्परा के विद्वानों में सिद्धसेनगणि, जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण, मल्लवादी, जिनदासगणिमहत्तर, हरिभद्रसूरि, बप्पभट्टिसूरि, शीलाङ्काचार्य आदि के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं।

तक में 'गच्छ' शब्द प्रयुक्त नहीं हुआ है। हाँ, छठी सातवीं शताब्दी के बाद के भाष्यों, चूर्णियों और प्रकीर्णकों में 'गच्छ' शब्द का व्यवहार अवश्य हुआ है। यही बात दिगम्बर सम्प्रदाय में भी है। जहाँ तक हमें ज्ञात है उनके तीसरी चौथी शताब्दी साहित्य में 'गच्छ' शब्द प्रयुक्त नहीं हुआ।

10. विक्रम की नवीं सदी के पहले के किसी भी शिलालेख, ताम्रपत्र या ग्रंथ के कुन्द-कुन्दाचार्य का नामोल्लेख न होना भी यही सिद्ध करता है कि वे उतने प्राचीन व्यक्ति न थे जितना कि अधिक दिगम्बर विद्वान् समझते हैं। यद्यपि मर्करा के एक ताम्रपत्र में, जो कि संवत् 388 का लिखा हुआ माना जाता है, कुन्दकुन्द का नामोल्लेख है, तथापि हमारी इस मान्यता में कुछ भी आपत्ति नहीं हो सकती। क्योंकि उस ताम्रपत्र में उल्लिखित तमाम आचार्यों के नामों के पहले 'भटार' (भट्टारक) शब्द लिखा गया है। इससे सिद्ध है कि यह ताम्रपत्र भट्टारक काल में लिखा गया है जो विक्रम की सातवीं सदी के बाद शुरु होता है। इस दशा में ताम्रपत्रवाला संवत् कोई अर्वाचीन संवत् होना चाहिये अथवा तो यह ताम्रपत्र ही जाली होना चाहिये।

शिवभूति के बाद का दिगम्बर संप्रदाय

हम ऊपर देख आये हैं कि दिगम्बर शिवभूति ने जो सम्प्रदाय चलाया था, यद्यपि कर्नाटक देशों में इसका पर्याप्त मान और प्रचार था, तथापि विक्रम की छठी शताब्दी के लगभग इसके साधु, राजा वगैरह की तरफ से भूमिदान वगैरह लेने लगे थे। कुन्दकुन्द जैसे त्यागियों को यह शिथिलता अच्छी नहीं लगी। उन्होंने केवल स्थूल-परिग्रह का ही नहीं बल्कि अब तक इस सम्प्रदाय में जो ''आपवादिक उपधि'' के नाम से वस्त्र, पात्र की छूट थी उसका भी विरोध किया और तब तक प्रमाण माने जाते श्वेताम्बर आगम ग्रन्थों को भी उद्धारकों ने अप्रामाणित ठहराया और उन्हीं आगमों के आधार पर अपनी तात्कालिक मान्यता के अनुसार नये धार्मिक ग्रन्थों का निर्माण शुरु किया। कुन्दकुन्द वगैरह जो प्राकृत के विद्वान् थे, उन्होंने प्राकृत में और देवनन्दी आदि संस्कृत के विद्वानों ने संस्कृत में ग्रंथ निर्माण कर अपनी परम्परा को परापेक्षता से मुक्त करने का उद्योग किया।

यद्यपि शुरु-शुरु में उन्हें पूरी सफलता प्राप्त नहीं हुई। यापनीय संघ का अधिक भाग इनके क्रियोद्धार में शामिल नहीं हुआ और शामिल होने वालों में से भी बहुत सा भाग इनकी सैद्धान्तिक क्रान्ति के कारण विरुद्ध हो गया था, तथापि इनका उद्योग निष्फल नहीं हुआ। इनके ग्रंथ और विचार धीरे-धीरे विद्वानों के हृदय में घर करते जाते थे। विक्रम की आठवीं, नवीं और दशवीं सदी के अकलंकदेव, विद्यानन्दों आदि दिग्गज दिगम्बर विद्वानों के द्वारा तार्किक पद्धति से परिमार्जित होने के उपरान्त वे और भी आकर्षक हो गये। फलस्वरूप प्राचीन सिद्धान्तों के आधार से बने गये ग्रंथों और सिद्धान्तों का सार्वत्रिक प्रसार हो गया।

इस प्रकार आधुनिक दिगम्बर सम्प्रदाय और इसके श्वेतांबर विरोधी सिद्धान्तों की नींव विक्रम की छठी शताब्दी के अंत में कुन्द-कुन्द ने और ग्यारहवीं शती में भट्टारक वीरसेन ने डाली।

हमारे उक्त विचारों का विशेष समर्थन नीचे की बातों से होगा :

1. परम्परागत श्वेतांबर जैन आगम जो विक्रम की चौथी शती में मथुरा और वलभी में और छठी सदी के प्रथम चरण में माधुर और वालभ्य संघ की सम्मिलित सभा में वलभी में व्यवस्थित किये और लिखे गये थे, उनमें से स्थानांग में औपपातिक उपांग सूत्र में और आवश्यक निर्युक्ति में सात निह्नवों के नामों और

उनके नगरों के भी उल्लेख किये गये हैं। ये 7 निह्नव मात्र साधारण विरुद्ध मान्यता के कारण श्रमणासंघ से बाहर किये गये थे, उनमें अन्तिम निह्नव गोष्ठामाहिल था; जो वीर संवत् 584, विक्रम संवत् 114 में संघ से बहिष्त हुआ था। यदि विक्रम की चतुर्थ शताब्दी तक भी दिगम्बर परम्परा में केवलिकत्रलाहार का और स्त्री तथा सवस्त्र की मुक्ति का निषेध प्रचलित हो गया होता तो उनको निह्नवों की श्रेणि में परिगणित न करने का कोई कारण नहीं था, परन्तु ऐसा नहीं हुआ, इससे जान पड़ता है कि विक्रम की पांचवीं शताब्दी तक श्वेताम्बर विरोधी सिद्धान्त प्रतिपादक वर्तमान दिगम्बर परम्परा का प्रादुर्भाव नहीं हुआ था।

2. विक्रम की सातवीं सदी के पहले के किसी भी लेख-पत्र में वर्तमान दिगम्बर-परम्परा-सम्मत श्रुतकेवलि, अंगपाठी, आचार्यों, गणों गच्छों और संघों का नामोल्लेख नहीं मिलता।

3. दिगम्बर परम्परा के पास एक भी प्राचीन पट्टावली नहीं है। इस समय जो पट्टावलियाँ उसके पास विद्यामान बताई जाती हैं, वे सभी बारहवीं सदी के पीछे की हैं और उनमें दिया हुआ प्राचीन गुरुक्रम बिल्कुल अविश्वसनीय है, बल्कि यह कहना चाहिए कि महावीर-निर्वाण से एक हजार वर्ष तक का इन पट्टावलियों में जो आचार्यक्रम दिया हुआ है, वह केवल कल्पित है। पांच चतुर्दशपूर्वधर, दशपूर्वधर, एकादशांगधर, एकांगपाठी, अंगैकदेशपाठी आदि आचार्यों का जो नाम, समय और क्रम लिखा है उसका मूल्य दन्तकथा से अधिक नहीं है। इसके विषय में पट्टावलियां एक मत भी नहीं हैं। श्रुतकेवली, दशपूर्वधर, एकादशांगधर, अंगपाठी और उनके बाद के बहुत समय तक के आचार्यों का नाम-क्रम और समय-क्रम बिलकुल अव्यवस्थित है। कहीं कुछ नाम लिखे हैं और कहीं कुछ, समय भी नहीं कुछ लिखा है और कहीं कुछ। कहीं भी व्यवस्थित समय या नामावली तक नहीं मिलती।

इन बातों पर विचार करने से यह निश्चय हो जाता है कि दिगम्बर पट्टावली-लेखकों ने विक्रम की पाँचवीं-छठी सदी से पहले के प्राचीन आचार्यों की जो पट्टावलियाँ दी हैं, वे केवल दन्तकथायें हैं और अपनी परम्परा की जड़ को महावीर तक ले जाने की चिंता से अर्वाचीन आचार्यो ने इधर-उधर के नामों को आगे-पीछे करके अपनी परम्परा के साथ जोड़ दिया है। प्रसिद्ध जैन दिगम्बर विद्वान् पं. नाथूरामजी प्रेमी भगवती आराधना की प्रस्तावना में लिखते हैं : 'दिगम्बर सम्प्रदाय

में अंगदारियों के बाद की जितनी परम्पराएं उपलब्ध हैं वे सब अपूर्ण हैं और उस समय संग्रह की गई हैं, जब मूल संघ आदि भेद हो चुके थे और विच्छिन्न परम्पराओं को जानने का कोई साधन न रह गया था।' परन्तु वस्तुस्थिति तो यह कहती है कि दिगम्बर सम्प्रदाय में महावीर के बाद एक हजार वर्ष पर्यन्त की जो परम्परा उपलब्ध मानी जाती है वह भी उस समय संग्रह की गई थी, जब मूल संघ आदि भेद हो चुके थे, क्योंकि पट्टावली संग्रहकर्त्ताओं के पास जब अपने निकटवर्ती आचार्यों की परम्परा जानने के भी साधन नहीं थे, तो उनके भी पूर्ववर्ती अंगपाठी और पूर्वधरों की परम्परा का जानना तो इससे भी कठिन था यह निश्चित है।

4. श्रुतकेवली भद्रबाहु के दक्षिण में जाने के सम्बन्ध में जो कथा दिगम्बर ग्रंथों में उपलब्ध होती है, वह विक्रम की ग्यारहवीं सदी के पीछे की है। दक्षिण में जाने वाले भद्रबाहु विक्रम की कई शताब्दियों के बाद के आचार्य थे। यह बात श्रवणबेलगोला की पार्श्वनाथवसति के शक संवत् 522 के आसपास के लिखे हुए एक शिलालेख से और दिगम्बर सम्प्रदाय के 'दर्शनसार', 'भावसंग्रह' आदि ग्रंथों से सिद्ध हो चुकी है, अंतएव श्रुतकेवली भद्रबाहु के नाते दिगम्बर सम्प्रदाय की प्राचीनता विषयक विद्वानों के अभिप्राय निर्मूल हो जाते हैं और निश्चित होता है कि श्रुतकेवली भद्रबाहु के वृत्तान्त से दिगम्बर सम्प्रदाय का कुछ भी सम्बन्ध नहीं था। दिगम्बर विद्वानों ने जो-जो बातें उनके नाम पर चढ़ाई है, वास्तव में उन सब का सम्बन्ध द्वितीय ज्योतिषी भद्रबाहु के साथ है और ज्योतिषी भद्रबाहु का सत्तासमय विक्रम की छठी शती था। वे सप्तमी शती के प्रारम्भ में परलोकवासी हुए थे।

5. बौद्धों के प्राचीन शास्त्रों में नग्न जैन साधुओं का कहीं उल्लेख नहीं है और विशाखावत्थु, धम्मपद, अट्ठकथा, दिव्यवावदान आदि में जहाँ नग्न निर्ग्रंन्थों के उल्लेख मिलते हैं, वे ग्रंथ उस समय के हैं, जब कि यापनीय संघ और आधुनिक दिगम्बर सम्प्रदाय तक प्रकट हो चुके थे। 'डायोलोग्स् ऑफ बुद्ध' नामक पुस्तक के ऊपर से बौद्ध ग्रंथों में वर्णित कुछ आचार (भगवान महावीर और महात्मा बुद्ध) नामक पुसत्क में (पृ. 61-65) दिए गए हैं, जिनमें नग्न रहने और हाथ में खाने का भी उल्लेख है। पुस्तक के लेखक बाबू कामताप्रसादजी की दृष्टि में ये चार प्राचीन जैन साधुओं के हैं, परन्तु वास्तव में यह बात नहीं है। 'मज्झिमनिकाय' में साफ-साफ लिखा गया है कि ये आचार आजीविक संघ के नामक गोशालक तथा उनके

मित्र नन्दवच्छ और किस्स-संकच्च के हैं जिनका बुद्ध के समक्ष निगंथ श्रमण 'सच्चक' ने वर्णन किया था।

6. दिगम्बरों के पास प्राचीन साहित्य नहीं है। इनका प्राचीन से प्राचीन साहित्य षट्खण्डागमसूत्र, कषायप्राभृत, भगवती आराधना[1] और कतिपयप्राभृत, जो कुन्द-कुन्दाचार्यकृत माने जाते हैं, परन्तु उक्त कृतियों में विक्रम की षष्ठ शती से पहिले की शायद ही कोई कृति हो।

उपर्युक्त एक-एक बात ऐसी है जो वर्तमान दिगम्बर समप्रदाय को अर्वाचीनता की तरफ लाती हुई विक्रम की छठी सदी तक पहुँचा देती है।

इनके अतिरिक्त स्त्री तथा शूद्रों को मुक्ति के लिए अयोग्य मानना, जैनों के सिवाय दूसरों के घर जैन साधुओं को आहार लेने का निषेध, आहवनीयादि अग्नियों की पूजा, सन्ध्यातर्पण, आचमन और परिग्रह मात्र स्वीकार करना आदि ऐसी बातें हैं जो दिगम्बर सम्प्रदाय के पौराणिक कालीन होने का साक्ष्य देती हैं।

श्वेताम्बर जैन आगमों में जब कि पुस्तकों की उपधि में नहीं गिना और उनके रखने में प्रायश्चित्त-विधान किया गया है, तब नाम मात्र भी परिग्रह न रखने के हिमायती दिगम्बर ग्रंथकार साधु को पुस्तकोपधि रखने की आज्ञा देते हैं, इससे यह सिद्ध होता है कि साधुओं में पुस्तक रखने का प्रचार होने के बाद यह सम्प्रदाय व्यवस्थित हुआ है।

1. भगवती आराधना भी मूल यापनिय ग्रंथ है।

श्वेतांबरों पर आपेक्ष...

हम ऊपर कह आये हैं कि पहले पहल आवश्यक-भाष्यकार ने नूतन स्थविर परम्परा वालों को 'बोडिया' नाम से सम्बोधित करके इनके मत को 'मिथ्यादर्शन' कहा था और इसका उत्तर भी अनेक दिगम्बर विद्वानों ने दे दिया था; पर भट्टारक देवसेन ने अपने दर्शनसार और भावसंग्रह में श्वेताम्बरों को 'धूर्त, संशयमिथ्यादृष्टि, गृहिकल्पिक, व्रतभ्रष्ट, सग्रन्थलिंगी, मार्गभ्रष्ट' आदि विशेषणों द्वारा उसका व्याज के साथ बदला लिया और इन्हीं का अनुसरण पं. वामदेव, भट्टारक रत्ननंदी प्रभृति पिछले विद्वानों ने किया।

भट्टारक देवसेन ने श्वेताम्बरों को गालियाँ देकर ही सन्तोंष नहीं माना; किन्तु आवश्यक-भाष्य-चूर्णि में दिगम्बरों की जो उत्पत्ति लिखी है, उसके उत्तर में उन्होंने श्वेताम्बरों की उत्पत्तिविषयक एक कथा भी गढ़ दी, जो नीचे दी जाती है।

'जब विक्रम राजा की मृत्यु हुए एक सौ छत्तीस वर्ष हो चुके तब सौराष्ट्र में 'वलभी' नगरी में श्वेतपट (श्वेताम्बर) संघ की उत्पत्ति हुई।

'उज्जयिनी नगरी में भद्रबाहु नामक एक अच्छे निमित्त शास्त्रवेत्ता आचार्य थे। उन्होंने निमित्तज्ञान से भविष्य जानकर अपने संघ से कहा- यहाँ बड़ा दुर्भिक्ष होनेवाला है, जो पूरे बारह वर्ष तक रहेगा। इसलिये अपने अपने संघ के साथ दूसरे देशों में चले जाना चाहिये। भद्रबाहु के उक्त वचन को सुनकर सब आचार्य अपने-अपने संघ के साथ जहाँ सुभिक्ष था वहाँ चले गये। परन्तु एक शान्तिनामा आचार्य जो कि बहुशिष्य-परिवार युक्त था, सुन्दर सौराष्ट्र देश की वलभी नगरी पहुँचा, जाने के बाद वहाँ भी बड़ा भयंकर दुष्काल पड़ा। यहाँ भिखारियों ने पेट चीर भोजन निकालकर खाया। इस निमित्त को पाकर सर्व साधुओं ने कम्बल, दण्ड, तुंबा और ओढ़ने के लिये श्वेत वस्त्र धारण किये। ऋषियों का आचार छोड़कर दीनवृत्ति से माँग कर भिक्षा ली और उपाश्रय में बैठकर यथेच्छ भोजन किया।

इस प्रकार का आचरण करते करते कितना ही काल बीतने पर सुभिक्ष हुआ तब 'शान्ति' आचार्य ने अपने संघ को बुलाकर कहा-'अब इस कुत्सित आचरण को छोड़ो और इसकी निन्दा गर्हा कर फिर मुनींद्रों का आचार ग्रहण करो।' यह वचन सुन कर उनके प्रथम शिष्य ने कहा-'इस अति दुर्घर आचरण को कौन धारण कर सकता है? न मिलने पर उपवास, दूसरे अनेक दुःसह अन्तराय, एक ही स्थान पर भोजन करना, अचेलक रहना किसी चीज का न माँगना, ब्रह्मचर्य, जमीन पर

सोना, दो दो महीने के बाद असह्य केश लोच करना, नित्य असह्य बाईस परीषहों का सहना (यह सब कठिन आचार इस समय कौन पाल सकता है? इस समय तो) जो कुछ भी आचार हमने ग्रहण किया है वहीं सुखकर है, दुःषमकाल में इसे छोड़ नहीं सकते।' तब शान्ति ने कहा– 'चारित्रभ्रष्ट होकर जीवित रहना अच्छा नहीं, यह जैन मार्ग को दूषित करने वाला है। जिन भगवान् के कहे हुए निर्ग्रंथ प्रवनच को छोड़ अन्यथा प्रवृत्ति करना मिथ्यात्व है।' इस पर रुष्ट होकर शिष्य ने (शान्ति के) मस्तक में एक लम्बे दण्ड से प्रहार किया, जिसकी चोट से स्थविर मरकर व्यन्तर देव हुआ।

'तब पाखण्ड को प्रकट करने वाला शिष्य श्वेतपट संघ का अधिपति हुआ और 'सग्रन्थ को भी निर्वाण हो सकता है' इस प्रकार का धर्मोपदेश करने लगा।

'अपने अपने पाखण्ड के अनुकूल शास्त्रों की रचना की और लोगों में उनका व्याख्यान करके उसी प्रकार का आचार प्रचलित किया। (इस प्रकार) निर्ग्रन्थता को दूषित कर उसकी निन्दा और अपनी प्रशंसा कर वह कपटपूर्वक बहुद्रव्य ग्रहण करके मूर्ख लोगों में अपना जीवन बिताने लगा।

'उधर शान्ति आचार्य का जीव व्यन्तरदेव उपद्रव करके कहने लगा–'जिन धर्म पाकर मिथ्यात्व को मत प्राप्त होओ'। तब डर कर जिनचन्द्र ने उसकी सर्व–द्रव्य–सम्पूर्ण अष्टप्रकारी पूजा बनाई जो आज भी उसको दी हुई है। आज भी वह बलिपूजा सर्व प्रथम उसी के नाम से दी जाती है। वह श्वेतपट संघ का पूज्य–कुलदेव कहा गया।

इस प्रकार मार्गभ्रष्ट सेवड़ों की उत्पत्ति कही।'

इसी आशय की श्वेताम्बरोत्पत्ति विषयक कथा ग्रंथकार ने अपने 'दर्शनसार' नामक ग्रंथ में भी लिखी है, पर वहाँ उन्होंने अपने अतिशय ज्ञान का भी परिचय दे दिया है, लिखा है 'और इस प्रकार अन्य भी आगमदुष्ट मिथ्याशास्त्रों की रचना करके 'जिनचन्द्र' ने अपनी आत्मा को प्रथम नरक में स्थापित किया।'

इसी कथा को पंद्रहवीं और सोहलवीं सदी के आसपास के दिगम्बर विद्वान् पं. वामदेव जी ने भी अपने भावसंग्रह में लिखा है, जहाँ अन्य वृत्तान्त तो इसी प्रकार का है, पर एक बात जो उन्होंने नयी कही है उसे नीचे लिख देते हैं।

'डरे हुए जिनचन्द्र ने उपद्रव की शान्ति के लिये आठ अंगुल लम्बे एक चतुरस्र काष्ठ पर उसका संकल्प कर के पूजन किया। श्वेत वस्त्र पर स्थापन करके

विधिपूर्वक पूजन करने से उस व्यन्तर ने उपद्रवात्मक चेष्टा को छोड़ दिया। वह 'पर्युपासन' नामक कुलदेव हुआ जो आज भी जालगन्ध आदि से बड़ी भक्ति से पूजा जाता है।'

'बीच में उत्तम श्वेतवस्त्र रखकर उसका पूजन किया इस कारण यह मत लोक में 'श्वेतांबर' इस नाम से प्रसिद्ध हुआ।'

विक्रम की सत्रहवीं सदी के भट्टारक रत्ननंदी ने 'भद्रबाहु चरित्र' नामक एक ग्रंथ बनाया है, यद्यपि इसका नाम भद्रबाहु-चरित्र है पर वास्तव में इसकी रचना श्वेतांबर मत के खण्डन के लिये की गई है। इसमें भी श्वेताम्बरमतोत्पत्ति का वृत्तान्त दिाय है, पर यह देवसेन और वामदेव के दिये हुए वृत्तान्तों से बिलकुल विलक्षण है। भट्टारकजी का दिया हुआ वृत्तान्त यहाँ पूरा-पूरा उद्धृत करना तो अशक्य है; पर उसका संक्षिप्त सार दे देते हैं-

'एक समय श्रुतकेवली भद्रबाहु बारह हजार मुनि परिवार के साथ उज्जयिनी नगरी के बाहर उद्यान में पधारे। उज्जयिनी का राजा चन्द्रगुप्ति आचार्य महाराज के वन्दनार्थ गया और पिछली रात में देखे हुए 16 स्वप्नों का फल पूछा। भद्रबाहुस्वामी ने राजा को उसके स्वप्नों का फल बताया जिसे सुन कर राजा को वैराग्य प्राप्त हुआ और भद्रबाहु के पास दीक्षा ले जैन मुनि हो गया।

'एक समय भद्रबाहु स्वामी जिनदा सेठ के घर आहार के लिये गये, तब घर में जाते ही वहाँ पालने में झूलते हुए दो मास के बालक ने उनसे कहा-'जाओ-जाओ।' स्वामी ने पूछा-कितने समय तक ? बालक ने उत्तर दिया-'बारह वर्ष पर्यन्त।'

भद्रबाहु ने स्थान पर आकर मुनिसंघ को बुलाकर कहा-साधुओं! इस देश में बारह वर्ष का भयंकर दुर्भिक्ष पड़ने वाला है, इस वास्ते संयमार्थी मुनियों के लिए अब इस देश में रहना उचित नहीं है।

'भद्रबाहु के वचन सुनकर संघ वहाँ से विहार करने को तत्पर हुआ। उज्जयिनी के धनाढ्य श्रावकों के वहाँ रहने के लिये आग्रह करने पर भीजब भद्रबाहु ने वहाँ रहना स्वीकार नहीं किया तब उन्होंने रामल्य स्थूलाचार्य, स्थूलभद्र वगैरह साधुओं से वहाँ रहने की प्रार्थना की और उसे उन्होंने स्वीकार किया और बारह हजार साधु वहीं ठहरे।

'भद्रबाहु उज्जयिनी से बारह हजार साधुओं के साथ कर्नाटक की तरफ विहार

कर गये, एक बड़ी अटवी में जाकर उन्होंने निमित्त से अपनी आयुष्य अल्प जानकर विशाखाचार्य को संघ के साथ आगे विहार कराके आप वहीं अटवी में चन्द्रगुप्त मुनि के साथ ठहरे, अनशन किया और समाधि मरण कर स्वर्ग सिधारे। चन्द्रगुप्त मुनि गुरु के चरणों का आलेखन कर उनकी सेवा करते और कान्तारवृत्ति से जीवन निर्वाह करते हुए वहीं रहे।

'विशाखाचार्य संघ के साथ चोलदेश पहुँचे। उधर उज्जयिनी में घोर दुर्भिक्ष पड़ा। एक दिन रामल्य, स्थूलभद्रादि आहार करके वन में जा रहे थे, उनमें से एक मुनि पीछे रह गये। भीखमंगों ने उनका पेट फाड़ भोजन निकाल खाया यह बात नगर में पहँचते ही हाहाकार मच गया और श्रावकों ने एकत्र हो मुनि मंडल से प्रार्थना की-'भगवन् ! बड़ा विषमकाल है इस समय आप नगर में पधार जायँ तो बहुत अच्छा हो। क्योंकि ज्ञानियों के लिये वन और नगर दोनों समान है।' श्रावकों की प्रार्थना का स्वीकार हुआ तब श्रावकों ने समहोत्सव उन्हें नगर में लाकर ज्ञाति के बन्धनानुसार भिन्न-भिन्न उपाश्रयों में ठहराया।

'प्रतिवर्ष भीषण दुर्भीक्ष पड़ रहे थे और रंक भीखमंगों की बाढ़सी आ गई थी जिनके भय से गृहस्थ लोग दिन भर किंवाड़ बन्द करके रहने लगे। साधु आहार के लिये जाते तो रंक उनके भी पीछे पड़ते, जिन्हें श्रावक लोग लाठियों से मारकर दूर करते, इस विपत्ति से घबरा कर श्रावक लोगों ने साधुओं से कहा-'महाराज, भीखमंगों से नाकों में दम आ गया है और हम लोग रसोई भी इनके डर से रात्रि के ही समय करते हैं, महेरवानी करके आप भी रात्रि के ही समय हमारे यहाँ से पात्र में आहार ले जायें और दिन में उसका भोजन करें। श्रावकों के इस वचन पर सब ने विचार कर के निर्णय किया-'जब तक विषम काल है तब तक ऐसा ही करेंगे, और उन्होंने तुम्बी का पात्र और भिक्षुक तथा कुत्तों के भय से हाथ में लाठी धारण की। गृहस्थों के घर से आहार लाकर एक दूसरे को देने लगे और मकान का द्वार बन्द कर गवाक्ष के उजाले में भोजन करने लगे।

'एक दिन रात्रि के समय आहार के लिये गये हुए क्षीणकाय नग्न साधु को देखकर यशोभद्र की सगर्भा स्त्री राक्षस की भ्रान्ति से डर गई और उसका गर्भपात हो गया। साधु तो यों ही लौट गया पर श्रावकों में इस घटना से हाहाकार मच गया और उन्होंने साधुओं से जाकर कहा-मुनि महाराज! समय बड़ा खराब है और आपका यह रूप भी भयंकर है, इस कारण सुभिक्ष होने तक आप आधा वस्त्र पहनकर कंधे पर कम्बल रख रात्रि के समय आहार लेने जायें और दिन में भोजन करें।' श्रावकों

की प्रार्थना से साधुओं ने वैसा ही किया और धीर-धीरे वे शिथिल हो गये।

'बारह वर्ष के बाद देश में फिर सुभिक्ष हुआ और विशाखाचार्य दक्षिण देश से चलकर उत्तर देश में क्रमशः कान्यकुब्ज नगर के बाहर उद्यान में पधारे।

'स्थूलाचार्य ने विशाखाचार्य को आया सुनकर उन्हें देखने के लिए अपने शिष्य भेजे। मुनियों ने जाकर आचार्य को वन्दन किया पर उन्होंने उन्हें प्रतिवन्दना नहीं की और कहा-'यह कौन सा नया मत निकाला है?' साधु लज्जित होकर वापस आये और सब वृत्तान्त अपने गुरु को कह सुनाया।

रामल्य, स्थूलभद्र और स्थूलाचार्य ने सब साधुओं को इकट्ठा करके कहा- 'अब हमें क्या करना चाहिये?' इस पर स्थूलाचार्य ने अपना अभिप्राय व्यक्त करते हुए कहा-'इस बुरे आचार को छोड़कर जिन मार्ग का स्वीकार कर छेदोपस्थापना करनी चाहिये।' साधुओं को स्थूलाचार्य की बात पसंद न आयी, उन्होंने कहा- 'इस सुगम मार्ग को छोड़कर अब दुष्कर मार्ग कौन ग्रहण करेगा?' स्थूलाचार्य बोले-'यह मत अच्छा नहीं है, मूल मार्ग को छोड़ कायरों का मार्ग पकड़ना संसार भ्रमण का कारण है।' इस पर कितनेक भव्यात्माओं ने तो मूलमार्ग का स्वीकार कर लिया पर कितनेक उस सत्य वचन से उलटे जलने लगे और बोले-'यह बूढ़ा क्या जानता है? इसकी बुद्धि में भ्रम हो गया है, जो इस प्रकार बकता है, परन्तु जब तक यह जीता है हमें सुख से नहीं रहने देगा' यह कह कर उन पापियों ने उन्हें दण्डों से मारकर गड्ढे में फेंक दिया । आर्तध्यान से मरकर आचार्य व्यन्तर देव हुआ और अवधिज्ञान से पूर्व भव देख कर उन नामधारी साधुओं को दुःख देने लगा। तब भयभीत होकर उन्होंने मिलकर उससे अपराध की क्षमा मांगी; देव ने कहा- 'विपरीत मार्ग को छोड़कर संयम मार्ग को स्वीकार करो।' साधु बोले-'वह दुर्धर मार्ग पालना तो कठिन है, पर गुरुबुद्धि से, तुम्हारी पूजा नित्य किया करेंगे' इत्यादि विनय से व्यन्तर को शान्त किया और गुरु की हड्डी लाकर उसमें गुरु की कल्पना कर नित्य पूजने लगे। आज भी क्षपक अस्ति की कल्पना से उसे 'खमणादिहडी' कहते हैं। फिर उसकी शान्ति के लिये आठ अंगुल लम्बी काठ की चतुरस्र पट्टी को ' वही यह है' ऐसी कल्पना कर उसे विधिपूर्वक पूजा। तब उसने उपद्रव की चेष्टा छोड़ दी और इनका 'पर्युपासन' नामक कुलदेव हुआ, जो आज तक बड़ी भक्ति से पूजा जाता है। इस प्रकार लोक में यह 'अर्धफालक' नामक अद्भुत मत कलिकाल के बल से फैल गया।

‘जिस व्रत का इन पञ्चेन्द्रियलोलुपों ने स्वयं आचरण किया था उसी प्रकार अपनी बुद्धि से सूत्र में लिख दिया।

‘इस प्रकार बहुत समय व्यतीत हो गया। एक समय वलभी के राजा लोकपाल की रानी चंद्रलेखा, जो कि उज्जयिनी के राजा चन्द्रकीर्ति की पुत्री और अर्धफालक मतवालों की शिष्या थी, अपने पति से बोली–‘कान्यकुब्ज’ नगर में हमारे गुरु महाराज विचरते हैं सो आप उन्हें जहाँ बुलायें।’ रानी के कथन से राजा ने जिनचंद्रादि अर्धफालकों को वलभीपुर बुलाया। प्रवेशमहोत्सव के दिन राजा उनकी अगवानी के लिये गया, पर साधुओं को नग्न और वस्त्रधारियों से विलक्षण वेषवाला देख कर वह वापस चला आया। रानी को इस बात का पता लगते ही गुरु के पास काफी संख्या में श्वेत वस्त्र भेजे जिन्हें उन्होंने लेकर धारण किया। फिर राजा ने उनकी भक्तिपूर्वक पूजा की। श्वेतवस्त्रों के धारण करने से उसी दिन से अर्धफालक मत से ‘श्वेताम्बर’ मत प्रकट हुआ।

‘विक्रम राजा की मृत्यु के बाद एक सौ छत्तीस वर्ष बीतने पर लोक में श्वेताम्बर नामक मत उत्पन्न हुआ। केवली को भोजन, स्त्री और ससंग साधुओं को उसी भव में मोक्ष, गर्भापहार आदि बातों का प्रतिपादक आगमसंग्रह उसी मूढ़ जिनचन्द्र आचार्य ने रचा।’

इस प्रकार दिगम्बराचार्यों एवं दिगंबर विद्वानों ने श्वेतांबर संप्रदाय पर मनकल्पित आक्षेप लगाए हैं... अतः अब हम उन आक्षेपों का खंडन करते हैं।

आपेक्ष का निराकरण...

इन कल्पित कथाओं को यहाँ लिख कर इन्हें हम अप्राप्त महत्त्व नहीं देते और न इनकी मीमांसा करने का ही कष्ट उठाते, परन्तु हम देखते हैं कि आजकल के बहुतेरे दिगम्बर विद्वान् भी इन्हें सत्य मानते हैं और इन्हीं सबूतों पर श्वेतांबर जैन संघ को अर्वाचीन ठहराने की चेष्टा करते हैं।

प्रथम तो देवसेन भट्टारक दसवीं और पं. वामदेव और रत्ननन्दी भट्टारक क्रमशः सोहलवीं सत्रहवीं सदी के लेखक हैं। इनके पहले के किसी भी दिगम्बरीय जैन ग्रंथ में इन कथाओं का उल्लेख नहीं है। इस दशा में क्रमशः साढ़े आठ सौ, चौदह सौ और पंद्रह सौ वर्ष के बाद निराधार लिखे गये ये किस्से स्वयं ही महत्त्वहीन ठहरते हैं। दूसरे ये सभी लेखक इस विषय में एक काव्य भी नहीं हैं। देवसेन दुर्भिक्ष के कारण दण्ड, कम्बल, तुम्बी और श्वेवस्त्र धारण करने के कारण 'श्वेतांबर' नाम पड़ा बताते हैं, वामदेव काठ की पट्टी पर श्वेतवस्त्र स्थापन करके व्यन्तर देव की पूजा करने के कारण 'श्वेतांबर' नाम पड़ा लिखते हैं, और रत्ननन्दी रानी चन्द्रलेखा के कहने से श्वेतवस्त्र धारण करने से 'श्वेताम्बर' मत प्रकट होना लिखते हैं।

देवसेन और वामदेव, दूसरे नैमित्तिक भद्रबाहु ने उज्जयिनी से जिस दुर्भिक्ष के कारण दक्षिण में विहार किया था उसी दुर्भिक्ष के समय श्वेताम्बरों की उत्पत्ति बताते हैं, तब रत्ननन्दी दुर्भिक्ष का वृत्तान्त प्रथम श्रुतकेवली भद्रबाहु के साथ जोड़ते हैं और उस समय उज्जयिनी में 'अर्धफालक' मत की उत्पत्ति हुई लिखते हैं और फिर बहुत समय के बाद वलभी में सुभिक्ष के समय में रानी के कहने से श्वेत वस्त्रों को धारण कर 'श्वेताम्बर' हुए लिखते हैं।

देवसेन जिनचंद्र द्वारा शान्तिव्यन्तर की सर्व द्रव्यों से अष्टविध पूजा प्रचलित होना और अपने समय तक उसका चालू रहना बताते हैं, तब वामदेव और रत्ननन्दी आठ अंगुल लम्बी चौरस काठ की पट्टी पर श्वेत वस्त्र स्थापन कर पूजा करना और अपने समय तक उसका चालू रहना बताते हैं।

देवसेन शान्तिव्यन्तर को श्वेताम्बरों का पूज्य कुलदेव मात्र लिखते हैं, तब पिछले दोनों लेखक उसका 'पर्युपासन' नाम होना बताते हैं।

रत्ननन्दी शिष्यों द्वारा शान्ति की हड्डियों को इकट्ठा कर पूजना और वह रीति अपने समय तक चालू रहना और उसका नाम 'खमणादिहडी' प्रसिद्ध होना लिखते

हैं जिसका कि प्रथम दो लेखकों ने कुछ भी उल्लेख नहीं किया।

इस प्रकार इन लेखकों के परस्पर विरुद्ध कथन से ही इन कथाओं का बाह्य कलेवर तो स्वयं जर्जरित हो जाता है; परन्तु 'स्थान' और 'समय' इन दो बातों में ये सभी लेखक एक मत हैं, अर्थात् सब विक्रमराजा की मृत्यु के बाद 136 वर्ष बीतने पर वलभी नगरी में श्वेतांबर मत का उत्पन्न होना बताते हैं।

अब हम यह देखेंगे कि लेखकों की ये बातें उपने उद्भव में कुछ आधार भी रखती हैं या नहीं।

विक्रम की दूसरी शताब्दी के द्वितीय चरण में वलभी में 'मतोत्पत्ति' बताना निराधार है, क्योंकि उस समय वलभी का अस्तित्व था इसमें कोई प्रमाण नहीं है, वलभी कनकसेन के समय विक्रम की तीसरी शताब्दी में बसी थी, यह बात इतिहास प्रसिद्ध है।

वलभी नगरी और शान्तिसूरि इन दो नामों के उल्लेख से हम समझते हैं कि इन कथाओं का सम्बन्ध विक्रम की छठी शताब्दी के प्रथम चरण में वलभी में घटी हुई किसी घटना के साथ होना चाहिए।

वीर सं. 980 (विक्रम सं. 510) में वलभी में माथुर और वालभ्य नाम से प्रसिद्ध दो श्वेताम्बर जैन संघों का सम्मेलन हुआ था और दोनों संघों ने दोनों वाचनाओं का समन्वयपूर्वक एकीकरण किया था। इस सम्मेलन में माथुर संघ के प्रधान देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण थे और वालभ्य संघ के प्रमुख कालकाचार्य और उपप्रमुख गंधर्व वादि वेताल शान्तिसूरि।

हम ऊपर कह आये हैं कि वालभ्य संघ नग्नता धारण करने वालों के विषय में बहुत अनुदार था और इसी कारण महागिरि के शिष्य बलिस्सह और स्वाति जैसे स्थविरों के नाम भी अपनी युगप्रधानावली में रखने की उदारता नहीं कर सका। आश्चर्य नहीं कि इसी सम्मेलन में दिगम्बरों के साथ भी मेल जोल करने सम्बन्धी कोई प्रस्ताव उपस्थित हुआ हो, पर वालभ्य संघ तथा खासकर शान्तिसूरि के शिष्यों ने उसे सफल न होने दिया हो और इस कारण दिगम्बर परम्परावालों ने शान्तिसूरि और उनके शिष्यों को कोसा हो।

सभी दिगम्बर लेखक श्वेताम्बरमत-प्रवर्तक का नाम 'जिनचन्द्र' लिखते हैं और वर्तमान जैन आगम उसी जिनचंद्र के बनाये हुए बताते हैं। हम समझते हैं कि दिगम्बरों का यह 'जिनचंद्र' और कोई नहीं, आचार्य 'जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण' हैं;

जिनका समय विक्रम की छठी और सातवीं सदी का मध्य भाग था।

जिनभद्र उस समय की श्वेताम्बर परम्परा के युगप्रधान आचार्य ही नहीं वरन् कट्टर साम्प्रदायिक सिद्धान्तकार भी थे। इन्होंने विशेषावश्यकभाष्यादि अनेक भाष्य और अन्य प्रकरण ग्रंथों की रचना की है। दिगम्बर विद्वान् इनको इतना कोसते हैं इसका यही कारण है कि इन्होंने दिगम्बरों का बड़ी कट्टरता पूर्वक खंडन करके श्वेताम्बर परम्परा को पुष्ट किया था।

भट्टारक देवसेन उपद्रव की शान्ति के लिये शान्ति व्यन्तर की पूजा करने की जो बात कहते हैं, वह वास्तव में श्वेताम्बर जैन परम्परा में प्रसिद्ध 'शान्तिस्नात्र' की सूचना है। श्वेताम्बरों में बहुत पुराने समय से 'जिन भगवान का जन्माभिषेक महोत्सव' करने की प्रवृत्ति चली आती थी जो पिछले समय में 'शान्तिस्नात्र' और 'शान्तिपूजा' इन नामों से प्रचलित हुई थी जो आज तक इन्हीं नामों से प्रसिद्ध है। इसमें भगवान् आदिनाथ, अजितनाथ, शान्तिनाथ और पार्श्वनाथ की प्रतिमाओं का 27 बार अथवा 108 बार अभिषेक और पूजन किया जाता है। इसके प्रारम्भ में ग्रह और दिक्पालों को बलिदान भी किया जाता है। मालूम होता है भट्टारक देवसेनजी ने इसी शान्तिपूजा का नाम सुनकर द्वेषवश 'शान्तिव्यन्तर' और उसकी पूजा की कल्पना गढ़ ली है।

पं. वामदेवजी 'आठ अंगुल लंबी चतुष्कोण काठ की पट्टी पर श्वेतवस्त्र बिछाकर शान्तिव्यन्तर की पूजा करने की बात करते हैं। यह कथन वस्तुतः श्वेताम्बर सम्प्रदाय में प्रचलित योग क्रिया का सूचक है। श्वेताम्बर मुनि सूत्रों के योग–सम्बन्धी कालग्रहण, स्वाध्याय प्रस्थापन आदि क्रियायें करते समय करीब आठ अंगुल लम्बी और चार पाँच अंगुल चौड़ी एक काठ की पट्टी अपने सामने रखते हैं और उस पर श्वेतवस्त्रिका भी बिछाते हैं। उसके आगे जो विधि की जाती है उसमें हस्तक्रिया भी ऐसी ही होती है, जिसे अनभिज्ञ आदमी नमस्कार ही समझ ले। पं. वामदेवजी ने इस प्रकार की योग–क्रिया करते हुए श्वेताम्बर मुनियों को कहीं देखकर यह मान लिया है कि यह शान्तिव्यन्तर की पूजा करते हैं।

पं. वामदेवजी 'पर्युपासन' यह नाम कहाँ से उठा लाये इसका कुछ पता नहीं चलता, क्योंकि इस नाम का या इसके मिलते–जुलते नाम का श्वेताम्बर सम्प्रदाय में कोई भी देव नहीं माना गया है।

भट्टारक रत्ननन्दी की हड्डियों को पूजने की कल्पना ने तो पहले के दोनों

लेखकों को मात कर दिया। श्वेताम्बर जैन साधु अपने पास जो स्थापनाचार्य रखते हैं उन्हीं को लक्ष्य करके रत्ननन्दी की इस कल्पना है। श्वेताम्बर जैन सम्प्रदाय के साधुओं में अपने आचार्य की स्थापना रखने की प्राचीन प्रवृत्ति है। स्थापना में आचार्य की मूर्ति या चित्र नहीं किन्तु पाँच कौड़े रखते हैं। जिनका आकार घुटने के ऊपर की हड्डी से कुछ मिलता जुलता सा होता है, भट्टारक जी महाराज ने इन्हें कहीं देख लिया और तुरन्त लिख दिया कि 'ये शान्तिसूरि की हड्डियाँ हैं।' वे जो यह कहते हैं कि 'आज भी वे 'खमणादिहडी' इस नाम से प्रसिद्ध हैं, सो शायद यह कल्पित नाम नन्दी क्रिया में 'खमासमणहत्थेणं' इस शब्द के ऊपर से अथवा गुरु को वन्दन करने के लिये जो 'खमासमणों', शब्द बोलते हैं उसके ऊपर से यह 'खमणादिहडी' नाम गढ़ लिया गया है।

इस प्रकार श्वेताम्बरोत्पत्ति के विषय में दिगम्बराचार्यों ने जो कथाएँ गढ़ी हैं उनका शरीर भानमती के पिटारे की तरह इधर-उधर की नयी पुरानी बातों से भरा गया है। विक्रम संवत् 136 में श्वेताम्बरों के उत्पन्न होने का जो कथन है, उसका तात्पर्य इतना ही है कि लगभग इसी अर्से में शिवभूति ने जिनकल्प की हिमायत की थी और स्थविरों के निषेध करने पर भी वे जिनकल्पी बनकर गच्छ से निकल गये थे। सम्भव है कि नग्नता का सक्रिय विरोध करने के लिये स्थविरकल्प के नाम से चली आती हुई ऐच्छिक नग्नता का प्रचार भी उसके बाद रोक दिया गया हो और अपने विरुद्ध वस्त्रधारियों की इस प्रवृत्ति को पिछले दिगम्बराचार्यों ने 'श्वेताम्बर-मतोत्पत्ति' के नाम से प्रसिद्ध कर दिया हो। ऐसा होना संभव भी है, क्योंकि श्वेताम्बरों ने दिगम्बरों के मत की उत्पत्ति लिखी थी तो दिगम्बरों को भी उसका कुछ न कुछ उत्तर तो देना ही था।

आधुनिक विद्वानों के विचार..

हम प्रारम्भ में ही कह आये हैं कि महावीर के शिष्यों का मुख्य भाग वस्त्रधारी होता था, तथापि संहनन, श्रुतज्ञात आदि की योग्यता प्राप्त करने के उपरान्त कितने ही जिनकल्प का स्वीकार कर नग्नावस्था में भी रहते थे और इस परिस्थिति के कारण प्राचीन जैन जैनेतर शास्त्रों में जैनश्रमणों के सम्बन्ध में नग्नतासूचक उल्लेख मिल जाये तो कोई आश्चर्य की बात नहीं है। इस प्रकार के उल्लेखों को देखकर कुछ युरोपीय अथवा भारतवर्षीय विद्वानों ने लिख दिया कि ' प्राचीन समय में जैनश्रमण नग्न होते थे' तो इसमें आश्चर्य नहीं है। हम खुद भी तो कहते हैं कि जैन श्रमणों में कुछ नग्न भी होते थे, पर इससे यह कैसे सिद्ध हो सकता है कि सभी जैन श्रमण नग्न होते थे, वस्त्रधारी होते ही नहीं थे ?

बौद्धों की अर्वाचीन जातक कथाओं में निर्ग्रन्थ श्रमणों को 'नग्न निर्गन्थ' लिखा देखकर कोई कह दे कि 'प्राचीन निर्ग्रन्थ भी नग्न होते थे' तो ऐसे आंशिक ज्ञानवालों के कथन से प्राचीन श्रमणों की नग्नता साबित नहीं हो सकती। जिन्होंने बौद्धों के सब से प्राचीन पालिग्रंथों और प्राचीन जैन सूत्रों का तलस्पर्शी अध्ययन किया है। ऐसे विद्वानों की सम्मति ही इस विषय में अधिक विश्वसनीय हो सकती है।

डाक्टर हर्मन जेकोबी इसी प्रकार के विद्वान् हैं और इन्होंने जैनसूत्रों की प्रस्तावना में प्राचीन बौद्ध ग्रंथों के उल्लेखों से यह बात अच्छी तरह सिद्ध कर दी है कि प्राचीन निर्ग्रन्थ श्रमण एक वस्त्र रखते थे। इसीलिए बौद्ध लोग उन्हें 'एक साटक' कहा करते थे।

कतिपय कट्टर साम्प्रदायिक आधुनिक दिगम्बर डा. हार्नल जैसे विचारकों के किसी एकदेशीय अभिप्राय को पढ़कर उसे आप्त वाक्य से भी अधिक मान बैठते हैं और कहने लगते हैं कि देखो, हार्नले साहब के कथन से श्वेताम्बर संघ की उत्पत्तिविषयक दिगम्बर जैन कथानकों की सत्यता झलक जाती है। परन्तु वे यह नहीं सोचते कि हार्नले साहब ने उस कथानक की सत्यता में न तो कोई प्रमाण दिया है और न उसकी कसौटी ही की है। उन्होंने भद्रबाहु श्रुतकेवली के दक्षिण में जाने और बाद में श्वेताम्बर मत की उत्पत्ति बतानेवाला दिगम्बर जैनों का अर्वाचीन कथानक बिना विचारे ही अक्षरशः सत्य मानकर दुष्काल में मगध में रहने वाले मुनियों के वस्त्रधारण करने के कारण दिगम्बर श्वेताम्बर सम्प्रदायों का विभाग होना

बता दिया। यदि उन्होंने इस कथानक को कसौटी पर चढ़ाया होता, तो उन्हें ज्ञात हो जाता कि यह कथानक जो वृत्तान्त उपस्थित करता है उसमें कुछ भी सत्यता नहीं है। श्रमणवेलगोला के एक प्राचीन लेख से इस कथानक की पोल खुल चुकी है कि दक्षिण में जाने वाले 'भद्रबाहु श्रुतकेवली' के नाम से प्रसिद्ध प्रथम भद्रबाहु नहीं किन्तु द्वितीय ज्योतिषी भद्रबाहु थे, जो विक्रम की कई शताब्दियों के बाद के आचार्य थे। इस पर भी यदि दिगंबर विद्वान् डा. हार्नले को आप्त मानने का आग्रह करते हों तो लीजिये हम भी इन्हीं हार्नले साहब के वचनों का प्रमाण उद्धृत कर दिखाते हैं।

आजीवक नामक अपने निबन्ध में डॉ. हार्नले कहते हैं-'जब सब तापस एक मत थे कि शरीर के उपरान्त कुछ भी दूसरी मिलकर तापस को न रखनी चाहिये, तब महावीर ने भिक्षान्न लेने के लिये भिक्षापात्र रखने की छूट रक्खी' (जै. सा. सं. 350)

उसी निबन्ध में डा. हार्नले कहते हैं-**'सब सम्भवित जान पड़ता है कि निर्ग्रंथ समाज में सामान्य नियम लंगोटी पहनने का था और केवल नग्नता का सम्प्रदाय गोशालक की टोली में ही प्रवर्तमान था।'** (जैन साहित्य संशोधक, पृ. 350)

डॉ. हार्नले अपने उसी निबन्ध में आगे जाकर कहते हैं- 'आजीवक पक्ष के जो मनुष्य अपनी तरफ सक्रिय सहानुभूति रखते थे उनको लेकर गोशालक (महावीर से) दूर हो गया, इस प्रकार जुदा पड़ने वालों का समूह बड़ा था। या तो वह अपने नेता गोशालक की मृत्यु के बाद जीवित रहा था यह मान लेने का कोई कारण नहीं है। जो गोशालक की नीति के विरुद्ध आचार-विचारों के समर्थक नहीं थे वे आजीवक पक्ष के मनुष्य निर्ग्रन्थ संघ में ही रहे, परन्तु सम्पूर्ण नग्नता, भिक्षापात्र का त्याग, अहिंसा विषयक अपूर्ण सावधानी, दण्ड की विशिष्ट संज्ञा और सम्भवतः अन्य बातों सम्बन्धी अपने विचारों के रक्खे रहे। इन भेदों के कारण आजीवक पक्ष और निर्ग्रन्थ समूह के बीच अवश्य ही कुछ संघर्षण तो था ही, पर खास करके वह आजीवकों के प्रति सहानुभूति रखने वाले भद्रबाहु के समय में बाहर आया। ई. स. पहले की तीसरी सदी के पूर्व भाग में वह पराकाष्ठा को प्राप्त हुआ और तेरासि (त्रैराशिक) के नाम से परिचित पक्ष निश्चित रूप से हमेशा के लिये जुदा पड़ा और उसका विशिष्ट संघ बना जो अब 'दिगम्बर' कहलाता है। इस प्रकार दिगम्बर और श्वेताम्बर जैन विभागों में मूल का उद्गम जैन धर्म के मूल प्रारम्भ तक में ज्ञात होता है, कारण कि इसका अस्तित्व परोक्ष रीत्या दो परस्पर

विरोधी विभागों के प्रतिनिधि स्वरूप महावीर और गोशालक नाम के दो सहचर अग्रेसरों के वैमनस्य के आभारी हैं।' (जै. सा. सं. 356)

दिगम्बर विद्वान् अपने आचार्यों द्वारा गढ़ी हुई भद्रबाहु विषयक कल्पित कथा को सत्य ठहराने के लिये 'प्रख्यात यूरोपीय विद्वान' कहकर जिनके अभिप्राय को गर्वपूर्वक उद्धृत करते हैं, उन्हीं डाक्टर हार्नले के उपर्युक्त उल्लेख हैं जिनमें वे महावीर को भिक्षापात्र की छूट रखनेवाला, उनके निर्ग्रन्थों को लंगोटी पहनने वाला और आधुनिक दिगम्बर संघ को भद्रबाहु के समय में निर्ग्रन्थ संघ से जुदी पड़ी हुई गोशालक सन्तति बताते हैं। क्यों विद्वानों! प्रख्यात यूरोपीय विद्वान् के इन विचारों को भी आप अक्षरशः सत्य मानेंगे न?

इसी प्रकार डा. जे. स्टीवेन्सन और मि. एम.एस. रामस्वामी ऐयंगर ने ईसा की प्रथम शताब्दी में श्वेताम्बर-दिगम्बरों के पृथक् होने की जो बात कही है, उसका आधार भट्टारक देवसेन की वह कथा है जो कि उन्होंने श्वेताम्बरों की उत्पत्ति के विषय में गढ़ी है। यदि ये विद्वान् इस कथा से कसौटी पर चढ़ा कर जाँच करते तो विक्रम संवत् के निर्देश आदि से अपने आप इसकी नूतनता और कृत्रिमता प्रकट हो जाती।

हमने ऊपर इस कथा की जो मीमांसा की है, उससे विचारक समझ सकते हैं कि इस कथा में कुछ भी वास्तविकता नहीं है और जब आधारभूत वृत्तान्त ही कृत्रिम है, तो उसके आधार पर व्यक्त किये गये आधुनिक विद्वानों के अभिप्रायों का मूल्य कितना हो सकता है? विचारक पाठकगण स्वयं निर्णय कर सकते हैं।

एनसाइक्लोपीडिया-बूटेनिका के किसी लेखक ने श्वेताम्बर जैन संघ की पुस्तकलेखन-संबंधी घटना का रहस्य न समझ कर उसे श्वेताम्बरों की उत्पत्ति मानने की भूल कर ली और उस मूल को प्रमाण के तौर पर उद्धृत करके दिगम्बर विद्वानों ने कह दिया कि देखो! इसमें श्वेताम्बरों की उत्पत्ति पाँचवी सदी में होना लिखा है। परन्तु उन्हें यह तो समझ लेना चाहिये था कि जब दिगम्बराचार्य स्वयं भी श्वेताम्बरों की उत्पत्ति विक्रम की दूसरी शताब्दी में हुई लिखते हैं तब यह पाँचवीं सदी बतानेवाला लेखक किस प्रकार प्रामाणिक हो सकेगा; परन्तु जिन्हें येन-केन-प्रकारेण श्वेताम्बरों की अर्वाचीनता ही सिद्ध करना है, उन्हें इन बातों से क्या मतलब?

श्वेताम्बर सम्प्रदाय के प्राचीनता की सिद्धि...

पहले हमने यह बताने का यत्न किया है कि श्वेताम्बरों की उत्पत्ति के विषय में प्राचीन और आधुनिक विद्वानों ने जो कुछ लिखा है, उसमें वे सफल नहीं हुए, बल्कि उन्हीं के लेखों से श्वेताम्बर परम्परा की प्राचीनता सिद्ध होती है।

अब हम यह देखेंगे कि श्वेताम्बर सम्प्रदाय की प्राचीनता को सिद्ध करने वाले कुछ प्रमाण भी उपलब्ध होते हैं या नहीं।

बौद्धों के प्राचीन पालिग्रन्थों में आजीवकमत के नेता गोशालक के कुछ सिद्धान्तों का वर्णन मिलता है जिसमें मनुष्यों की कृष्ण, नील, लोहित, हारिद्र, शुक्ल और परमशुक्ल ये छः आभिजातियाँ बतायी गईं हैं; इनमें से दूसरी नीलाभिजाति में बौद्धभिक्षुओं और तीसरी लोहितांभिजाति में निर्ग्रन्थों का समावेश किया है। इस स्थल में निर्ग्रन्थों के लिये प्रयुक्त बौद्धसूत्र के शब्द इस प्रकार हैं– 'लौहिताभिजाति नाम निग्गंथा एकसाटकाति वदति'। अर्थात् एक-चीथड़ेवाले निर्ग्रन्थों को वह लोहिताभिजाति कहता है। (अंगुत्तरनिकाय भाग 3 पृष्ठ 383)

इस प्रकार गोशालक ने निर्ग्रन्थों के लिये जो यहाँ 'एक चीथड़ेवाले यह विशेषण प्रयुक्त किया है और इसी प्रकार दूसरे स्थलों में भी अतिप्राचीन बौद्ध लेखकों ने जैन निर्ग्रंथों के लिये 'एकसाटक' विशेषण लिखा है। इससे सिद्ध होता है कि बुद्ध के समय में भी महावीर के साधु एक वस्त्र अवश्य रखते थे, तभी अन्य दार्शनिकों ने उनको उक्त विशेषण दिया है।

कट्टर साम्प्रदायिक दिगम्बर यह 'एकसाटक' विशेषण उदासीन निर्ग्रंथ श्रावकों के लिये प्रयुक्त होने की सम्भावना करते हैं, परन्तु उन्हें यह मालूम नहीं कि बौद्ध त्रिपिटकों में 'निग्गन्थ' शब्द केवल निर्ग्रन्थ साधुओं के लिये प्रयुक्त हुआ है; श्रावकों के लिये नहीं। जहाँ कहीं भी जैन श्रावकों का प्रसंग आया है, वहाँ सर्वत्र 'निग्गंठस्स नाथपुत्तस्स सावका' (निर्ग्रन्थ ज्ञातपुत्र के श्रावक) अथवा 'निगंठसावक' (निर्ग्रन्थ के श्रावक) इस प्रकार श्रावक शब्द का ही उल्लेख हुआ है, न कि 'निग्गंथ' शब्द का। इसलिये 'निग्गंठ' शब्द का 'श्रावक' अर्थ लगाना कोरी हठधर्मी है।

बौद्धसूत्र मज्झिमनिकाय मं निर्ग्रन्थ-संघ के साधु सच्चक के मुख से बुद्ध के समक्ष गोशाल मंखलिपुत्त तथा उसके मित्र नन्दवच्छ और किस्ससंकिच्च के

अनुयायियों में पाले जाने वाले आचारों का वर्णन कराया है।

सच्चक कहता है-'ये सर्व वस्त्रों का त्याग करते हैं (अचेलक) सर्व शिष्टाचारों से दूर रहते हैं (मुक्ताचार), आहार अपने हाथों में ही चाटतें हैं (हस्तापलेखण) इत्यादि।

समझने की बात है कि यदि निर्ग्रन्थ जैन श्रमण सच्चक स्वयं अचेलक और हाथ में भोजन करनेवाला होता तो वह आजीवक भिक्षुओं का 'हाथ चाटनेवाले' आदि कहकर उपहास कभी नहीं करता। इससे भी जाना जाता है कि महावीर के साधु वस्त्रपात्र अवश्य रखते थे।

बौद्ध दीर्घनिकाय के पासादिक सुत्तंत में महावीर के निर्वाण के बाद उनके साधुओं में झगड़ा होने की बात कही गई है और लिखा है कि निर्ग्रन्थज्ञातपुत्र के जो उज्ज्वल वस्त्रधारी गृहस्थ श्रावक थे वे भी निर्ग्रन्थ ज्ञातपुत्र के साधुओं से विरक्त हो गये। ग्रन्थ के मूल शब्द ये हैं-'येपि निग्गण्ठस्स नाथपुत्तस्स सावका गिही ओदातवसना तेपि निग्गण्ठेसु नाथपुत्तियेसु निव्विण्णरूवा।' इसमें प्रयुक्त 'ओदातवसना' शब्द का अर्थ किसी अंग्रेज विद्वान् ने 'श्वेतवस्त्रधारी' ऐसा किया। इस पर से बाबू कामताप्रसाद जैन जैसे विद्वानों ने मान लिया कि श्वेतवस्त्रधारी महावीर के श्रावक होते थे। इसलिये बौद्धग्रन्थों का 'एकसाटक' निर्ग्रन्थ भी श्वेतवस्त्रधारी जैनश्रावक ही होगा। परन्तु वे यह तो देखें कि यहाँ पर साक्षात् 'श्रावक' शब्द का उल्लेख हुआ है। यदि 'निग्गंथ' शब्द श्रावकवाची होता तो यहाँ 'सावक' शब्द के प्रयोग की आवश्यकता ही क्यों होती?

दूसरे अवदात शब्द का अर्थ भी श्वेत नहीं, उज्ज्वल अथवा स्वच्छ होता है। उज्ज्वल श्वेत भी हो सकता है और अन्यवर्ण भी। अंग्रेज कोई केवली नहीं हैं, जो उनके कहने से अवदात का अर्थ श्वेत ही माना जाय और अन्यवर्ण न माना जाय।

दिगम्बर लेखक कहा करते हैं कि श्वेताम्बरमत प्रवर्तक जिनचंद्र ने अपने आचरण के अनुसार नये शास्त्र बनाये और उनमें स्त्रीमुक्ति और केवलिकवलाहार और महावीर का गर्भापहार आदि नयी बातें लिखीं। इस आक्षेप के ऊपर हम शास्त्रार्थ करना नहीं चाहते, क्योंकि स्त्रीमुक्ति और केवलिमुक्ति का निषेध पहले पहल दिगम्बराचार्य कुन्दकुन्द ने ही किया है जो कि विक्रम की छठी सदी के विद्वान ग्रंथकार हैं। इनके पहले के किसी भी ग्रंथकार ने इन बातों का निषेध नहीं किया। इसलिये इन बातों की प्रामाणिकता स्वयं सिद्ध है।

रही गर्भापहार की बात, सो यह मान्यता भी लगभग दो हजार वर्ष से भी प्राचीन है, ऐसा कथन डा. हर्मन जेकोबी आदि विद्वानों का है और यह कथन केवल अटकल ही नहीं; ठोस सत्य है। इस पर भी इस विषय में जिनको शंका हो वे मथुरा के कंकाली टीला में से निकले हुए 'गर्भापहार' का शिलापट्ट देख लें, जो कि आजकल लखनऊ के म्यूजियम में सुरक्षित है। प्राचीन लिखित कल्पसूत्रों में जिस प्रकार का इस विषय का चित्र मिलता है ठीक उसी प्रकार का दृश्य उक्त शिलापट्ट पर खुदा हुआ है। माता त्रिशला और पंखा झलनेवाली दासी को अवस्वापिनी निद्रा में सोते हुए और हिरन जैसे मुखवाले हरिनैगमेषी देव को अपने हस्तसंपुट में महावीर को लेकर ऊर्ध्वमुख जाता हुआ बताया है। (इस दृश्य के दर्शनार्थी लखनऊ के म्यूजियम में नं. जे. 626 वाली शिला की तलाश करें)।

इसी प्रकार भगवान् महावीर की 'आमलकी क्रीड़ा' सम्बन्धी वृत्तान्त-दर्शक तीन शिलापट्ट कंकाली टीले में से निकले हैं और इस समय मथुरा के म्यूजियम में सुरक्षित हैं। इन पर नं. 1046 एफ् 37 तथा 1115 हैं। उपर्युक्त दोनों प्रसंगों से सम्बन्ध रखने वाले शिलालेख भी वहाँ मिलते हैं।

पाठकगण को ज्ञान होगा कि महावीर की 'आमलकी क्रीड़ा' का वर्णन भी जैन श्वेताम्बर शास्त्रों में भी मिलता है। दिगम्बरों के ग्रंथों में इसका कहीं भी उल्लेख नहीं है।

उपर्युक्त दोनों प्रसंगों के प्राचीन लेखों और चित्रपट्टों से यह बात निर्विवाद सिद्ध हो जाती है कि श्वेताम्बर जैन आगमों में वर्णित 'गर्भापहार' और 'आमलकी क्रीड़ा' का वृत्तान्त दो हजार वर्ष से अधिक प्राचीन है। इस प्रकार श्वेताम्बर जैन शास्त्रोक्त वृत्तान्तों के प्रामाणिक सिद्ध होने से उन शास्त्रों की प्रामाणिकता और प्राचीनता भी स्वयं सिद्ध हो जाती है।

श्वेताम्बर जैन संघ के मान्य कल्पसूत्र में पुस्तक लिखने के समय की स्मृति में वीरनिर्वाण संवत् 980 और 993 के उल्लेख हैं और इस सूत्र की 'थेरावली' में भगवान् देवर्द्धिगणि तक की गुरुपरम्परा का वर्णन है। इन दो बातों के आधार पर दिगम्बर विद्वान् कह बैठते हैं कि कल्पसूत्र देवर्द्धिगणि की रचना है, पर वे यह सुनकर आश्चर्य करेंगे कि इसी कल्पसूत्र की थेरावली में वर्णित कतिपय 'गण', 'शाखा' और 'कुलों' का निर्देश राजा कनिष्क के समय में लिखे गये मथुरा के शिलालेखों में भी मिलता है। पाठकों के अवलोकनार्थ उनमें से दो एक लेखों को

यहाँ उद्धृत करते हैं।

1. ''सिद्धं। सं. 20 ग्रामा 1। दि10+5। कोटियतो गणतो, वाणियतो कुलतो, वइरितो शाखातो, शिरिकातो, भत्तितो, वाचकस्य, आर्य्यसंघसिंहस्य निर्व्वर्त्तनं दत्तिलस्य.... वि-लस्य कोठुंबिकिय, जयवालस्य, देवदासस्य, नागदिनस्य च नागदिनाये च मातुश्राविकाये दिनाये दानं ।इ। बर्द्धमानप्रतिमा[1]।''

2. ''सिद्धं महाराजस्य कनिष्कस्य राज्ये संवत्सरे नवमे ।।9।। मासे प्रथ1 दिसे 5 अस्यां पूर्वाये कोटियतो गणतो, वाणियतो कुलतो, वइरितो साखातो, वाचकस्य नागनंदिसनिर्वर्तनं ब्रह्मधूतुये भटिमित्तस्स कुटुंबिनिये विकटाये श्रीवर्द्धमानस्य प्रतिमा कारिता सर्वसत्वानं हित सुखाये।''

ऊपर के दोनों शिलालेखों में जिन गण, शाखा और कुल का उल्लेख हुआ है वे आर्य सुहस्ति के पट्ट शिष्य सुट्ठियसुप्पड़िबुद्ध अपरनाम कोटियकाकन्दक से निकले थे। देखो, 'कल्पथेरावली' का निम्नलिखित पाठ-

''थेरेहिंतो सुट्ठिय-सुप्पडिबुद्धेहिंतो कोडिय-काकन्दएहिंतो वग्घावच्चस-गुत्तेहिंतों इत्थ णं कोडियगणे नामं गणे निग्गए। तस्स णं इमाओ चत्तारि साहाओ, चत्तारि कुलाइं एवमाहिज्जंति। से किं तं साहाओ ? साहाओ एवमाहिज्जंति तंजहा-

उच्चानागारी 1 विज्जाहरी य 2 वइरी य 3 मज्झिमिल्ला य 4। कोडियगणस्स एया, हवंति चत्तारि साहाओ।।1।। से तं साहाओ।। से किं तं कुलाइं? कुलाइं एवमाहिज्जंति तं जहा-

पढमित्थ बंभलिज्जं 1, विइयं नामेण बत्थलिज्जं तु 2, तइयं पुण वाणिज्जं 3, चउत्थयं पण्हवाहणयं 4 ।।1।।

(कल्पसूत्र मूल दे. ला. पा. 55)

विचारकगण ऊपर दिये हुए लेखों और कल्पसूत्र के गण, शाखा और कुलों का मिलन करें और सोचें कि जैन श्वेतांबर परम्परा कितनी प्राचीन होनी चाहिये और जिसकी बीतें लगभग दो हजार वर्ष के शिलालेखों से सत्य प्रमाणित होती हैं, वह कल्पसूत्र कितना प्रामाणिक होना चाहिए।

ऊपर हमने मथुरा के जिन लेखों और चित्रपट्टों का उल्लेख किया है वे सब

1. वह लेख कनिंगहामकृत 'आर्कोलोजिकल सर्वे आफ इंडिया' के अंक आठवें में चित्र 13-14 में प्रकट हुआ है।

मथुरा-कंकाली टीला के नीचे दबे हुए एक जैन स्तूप में से सरकारी शोधखातावालों को उपलब्ध हुए हैं। श्वेताम्बर परम्परा के आगमग्रंथ आचाराङ्ग-निर्युक्ति में तथा निशीथ, बृहत्कल्प और व्यवहार सूत्रों के भाष्यों और चूर्णियों में इस स्तूप का वर्णन मिलता है। इन ग्रंथों के रचनाकाल में यह जैनों का अत्यन्त प्रसिद्ध और प्रिय तीर्थ माना जाता था। चूर्णिकारों के समय में यह 'देवनिर्मित स्तूप' के नाम से प्रसिद्ध हो चुका था। व्यवहार-चूर्णि में इसकी उत्पत्ति-कथा भी लिखी मिलती है। इस स्तूप में से उक्त लेखों से भी सैकड़ों वर्षों के पुराने अन्य अनेक लेख, तीर्थंकरों की मूर्तियाँ, पूजापट्टक, प्राचीन पद्धति की अग्रावतार-वस्त्रवाली जैन श्रमणों की मूर्तियाँ और अन्य अनेक स्मारक मिले हैं, जो सभी श्वेताम्बर परम्परा के हैं और लखनऊ तथा मथुरा के सरकारी अजायबघरों में संरक्षित हैं। इन अति प्राचीन स्मारकों में दिगम्बरों से सम्बन्ध रखनेवाला कोई पदार्थ अथवा उनके चतुर्दश पूर्वधर, दशपूर्वधर, एकादशांगधर, अंगधर या उनके बाद के भी किसी प्राचीन आचार्य का नाम या उनके गण, गच्छ या संघ का कहीं नामोल्लेख तक नहीं है। जैन श्वेताम्बरपरम्परा कितनी प्राचीन है और उसके वर्तमान आगम कैसे प्रामाणिक हैं इसके निर्णय के लिये हमारा उपर्युक्त थोड़ा सा विवेचन ही पर्याप्त होगा।

दिगम्बर परम्परा की अर्वाचिनता स्वयंसिद्ध है।

हम आगे देख आये हैं कि दिगम्बर शिवभूति ने जो सम्प्रदाय चलाया था वह दक्षिण में से प्रसिद्ध हो गया था। यद्यपि कर्नाटक देश में इसका पर्याप्त मान और प्रचार था तथापि विक्रम की छठी शताब्दी के लगभग उसके साधुओं में कुछ चैत्यवास का असर हो गया था और वे राजा वगैरह की तरफ से भूमिदान वगैरह लेने लग गये थे। अर्वाचीन कुन्दकुन्द जैसे त्यागियों को यह शिथिलता अच्छी नहीं लगी। उन्होंने केवल स्थूल परिग्रह का ही नहीं बल्कि अब तक इस सम्प्रदाय में जो आपवादिक लिङ्ग के नाम से वस्त्रपात्र को छूट थी। उसका भी विरोध किया और तब तक प्रमाण माने जाने वाले श्वेताम्बर आगमग्रंथों को भी इन उद्धारकों ने अप्रामाणिक ठहराया और उन्हीं आगमों के आधार पर अपनी तात्कालिक मान्यता के अनुसार नये धार्मिक ग्रंथों का निर्माण करना शुरु किया। कुन्दकुन्द वगैरह जो प्राकृत के विद्वान थे उन्होंने प्राकृत में और देवनन्दी आदि संस्कृत के विद्वानों ने संस्कृत के ग्रंथ निर्माण कर अपनी परम्परा को परापेक्षता से मुक्त करने का उद्योग किया[1]।

यद्यपि शुरु ही शुरु में उन्हें पूरी सफलता प्राप्त नहीं हुई। यापनीय संघ का अधिक भाग इनके क्रियोद्धार में शामिल ही नहीं हुआ और शामिल होने वालों में से भी बहुत सा भाग इनकी सैद्धान्तिक क्रान्ति के कारण विरुद्ध हो गया तथा धीरे-धीरे दिगम्बर संघ द्राविड़ संघ आदि कई भागों में टूट गया था, तथापि इनका उद्योग निष्फल नहीं गया। इनके ग्रंथ और विचार धीरे-धीरे विद्वानों के हृदय में घर करते जाते थे और विक्रम की नवीं सदी के अकलंकदेव, विद्यानन्दी आदि दिग्गज दिगम्बर विद्वानों के द्वारा तार्किक पद्धति से परिमार्जित होने के उपरान्त तो वे और भी आकर्षण हो गये। फलस्वरूप प्राचीन सिद्धान्तों का लोप और इन नये ग्रंथों का सार्वत्रिक प्रसार हो गया[2]।

1. कुन्दकुन्दाचार्य ने अपने किसी भी ग्रंथ में अपनी गुरु-परंपरा का ही नहीं अपने गुरु का भी नामोल्लेख नहीं किया। इससे मालूम होता है कि कुन्दकुन्द के क्रियोद्धार में उनके गुरु भी शामिल नहीं हुए होंगे और इसी कारण से उन्होंने शिथिलाचारी समझकर अपने गुरु प्रगुरुओं का नाम निर्देश नहीं किया होगा।
2. कर्मप्रकृति, प्राभृत और कषायप्राभृत जो कि दिगम्बर जैन सम्प्रदाय के मौलिक सिद्धान्त ग्रंथ थे। आज कहीं भी उपलब्ध नहीं होते, इतना ही नहीं, बल्कि उनकी प्राचीन टीकाओं का भी आज कहीं अस्तित्व नहीं रहा। इसका कारण क्या होना चाहिये? कुन्दकुन्द के

इस प्रकार आधुनिक दिगम्बर सम्प्रदाय और इसके श्वेताम्बर विरोधी सिद्धान्तों की नींव विक्रम की छठी शताब्दी में आचार्य कुन्दकुन्द ने डाली।

हमारे उक्त विचारों का विशेष समर्थन नीचे की बातों से होगा–

1. परम्परागत श्वेताम्बर जैन आगम जो विक्रम की चौथी सदी में मथुरा और वलभी और छट्ठी सदी के प्रथम चरण में माथुर और वालभ्य संघ की सम्मिलित सभा में वलभी में व्यवस्थित किये और लिखे गये हैं। उनमें के स्थानाङ्ग तथा औपपातिक सूत्र में और आवश्यक निर्युक्ति में सात निह्नवों के नाम और उनके नगरों का उल्लेख किया गया है, जो मात्र साधारण विरुद्ध मान्यता के कारण श्रमणसंघ से बाहर किये गये थे। इनमें अन्तिम निह्नव गौष्ठामाहिल है जो वीर संवत् 584 (विक्रम सं. 114) में संघ से बहिष्कृत हुआ था। यदि विक्रम की चतुर्थ शताब्दी तक भी दिगम्बर परंपरा में केवलिकवलाहार का और स्त्री तथा वस्त्रधारी की मुक्ति का निरोध प्रचलित हो गया होता तो उनको निह्नवों की श्रेणि में दर्ज न करने का कोई कारण नहीं था; परंतु ऐसा नहीं हुआ इससे जान पड़ता है कि विक्रम की पाँचवी शताब्दी तक श्वेताम्बर–विरोधी–सिद्धान्त–प्रतिपादक वर्तमान दिगंबर परंपरा का प्रादुर्भाव नहीं हुआ था।

2. विक्रम की सातवीं सदी के पहले के किसी भी लेखपत्र में वर्तमान दिगंबर–परंपरा–संमत श्रुतकेवली, दशपूर्वधर, अङ्गपाठी आचार्यों, गणों, गच्छों और संघों का नामोल्लेख नहीं मिलता।

3. दिगंबर–परंपरा के पास एक भी प्राचीन पट्टावली नहीं है। इस समय जो पट्टावलियाँ उसके पास विद्यमान हैं वे सभी बारहवीं सदी के पीछे की हैं और उनमें दिया हुआ प्रीन गुरुक्रम बिलकुल अविश्वसनीय है। बल्कि यह कहना चाहिये कि

पहले के अन्य ग्रंथ तो रह जायें और मौलिक सिद्धान्त जिनका यह संप्रदाय 'परमागम' कहकर बहुमान करता है आज न रहें। इसका अवश्य ही कारण होना चाहिये और जहाँ तक हम समझते हैं, इसका कारण एकान्त नग्नवादिता आदि नये सिद्धान्त हैं। जब तक कुन्दकुन्द आदि के एकान्त नग्नतावाद का और स्त्रीमुक्ति तथा केवलिमुक्ति के निषेधवाद का सार्वत्रिक प्रचार नहीं हुआ था तब तक उन प्राचीन सिद्धान्तों का जिनमें इन ऐकान्तिक वादों का विधान न होगा–इन सम्प्रदायवालों ने अनुसरण और संरक्षण किया और जब से कुन्दकुन्द का एकान्तवाद सर्वमान्य हो गया तब से उन प्राचीन सिद्धान्त का जिनमें इन एकान्तिक वादों का विधान न होगा– इन सम्प्रदायवालों ने अनुसरण और संरक्षण किया और जब से कुन्दकुन्द का एकान्तवाद सर्वमान्य हो गया तब से उन प्राचीन सिद्धान्तों की उपेक्षा की गयी और परिणाम स्वरूप वे कालान्तर में सदा के लिये नष्ट हो गये।

महावीर -निर्वाण के बाद एक हजार वर्ष तक का इन पट्टावलियों में जो आचार्यक्रम दिया हुआ है वह केवल कल्पित है। पाँच चतुर्दशपूर्वधर, दस दशपूर्वधर, एकादशाङ्गधर, एकांगपाठी, अंगौकदेशपाठी आदि आचार्यों के जो नाम, समय और क्रम लिखा है उसका मूल्य दन्तकथा से अधिक नहीं है। इनके विषय में पट्टावलियाँ एक मत भी नहीं हैं। श्रुतकेवली, दशपूर्वधर, एकादशाङ्गधर, अंगपाठी और उनके बाद के बहुत समय तक के आचार्यों का नाम-क्रम और समय-क्रम बिलकुल अव्यवस्थित है। कहीं कुछ नाम लिखे हैं और कहीं कुछ । समय भी कहीं कुछ लिखा है और कहीं कुछ। कहीं भी व्यवस्थित समय या नामावली तक नहीं मिलती।

इन बातों पर विचार करने से यह निश्चय हो जाता है कि दिगम्बर पट्टावली-लेखकों ने, विक्रम की पाँचवी छठी सदी से पहले के प्राचीन आचार्यों की जो पट्टावली दी है, वह केवल दन्तकथा मात्र है और अपनी परम्परा की जड़ को महावीर तक ले जाने की चिन्ता से अर्वाचीन आचार्यों ने इधर-उधर के नामों को आगे पीछे करके अफनी परम्परा के साथ जोड़ दिया है। प्रसिद्ध दिगम्बर जैन विद्वान् पं. नाथूरामजी प्रेमी भगवती आराधना की प्रस्तावना में लिखते हैं- 'दिगम्बर सम्प्रदाय में अंगधारियों के बाद की जितनी परम्पराएँ उपलब्ध है, वे सब अपूर्ण हैं और उस समय संग्रह की गई है जब मूलसंघ आदि भेद हो चुके थे और विच्छिन्न परम्पराओं को जानने का कोई साधन न रह गया था।'' परन्तु वस्तुस्थिति तो यह कहती है कि दिगम्बर-संप्रदाय में महावीर के बाद एक हजार वर्ष पर्यंत की जो परम्परा उपलब्ध है वह भी उस समय संग्रह की गई थी जब मूलसंघ आदि भेद हो चुके थे। क्योंकि पट्टावली-संग्रहकर्ताओं के पास जब अपने निकटवर्ती आचार्यों की परम्परा जानने का भी साधन नहीं था तो उनके भी पूर्ववर्ती अङ्गपाठी और पूर्वधरों की परम्परा का जानना तो इससे भी कठिन था, यह निश्चित है।

4. श्रुतकेवली भद्रबाहु के दक्षिण में जाने के सम्बन्ध में जो कथा दिगम्बर ग्रंथों में उपलब्ध होती है वह विक्रम की दसवीं सदी के पीछे की है। दक्षिण में जाने वाले भद्रबाहु विक्रम की कई शताब्दियों के बाद के आचार्य थे, यह बात श्रवण बेलगोला की पार्श्वनाथ-वस्ति के लगभग शक संवत् 522 के आसपास के लिखे हुए एक शिलालेख से और दिगम्बर सम्प्रदाय के दर्शनसार, भावसंग्रह आदि ग्रंथों से सिद्ध हो चुकी है। अतएक श्रतकेवली भद्रबाहु के नाते दिगम्बर-परंपरा की प्राचीनता-विषयक विद्वानों के अभिप्राय निर्मूल हो जाते हैं और निश्चित होता है

कि श्रुतकेवली भद्रबाहु के वृत्तान्त से दिगम्बर सम्प्रदाय का कुछ भी सम्बन्ध नहीं था। दिगम्बर विद्वानों ने जो जो बातें उनके नाम पर चढ़ाई हैं वास्तव में उन सबका सम्बन्ध द्वितीय ज्योतिषी भद्रबाहु के साथ है।

5. बौद्धों के प्राचीन शास्त्रों में नग्न जैन साधुओं का कहीं उल्लेख नहीं है और विशाखावत्थु, धम्मपद अट्ठकथा, दिव्यावदान आदि में जहाँ नग्न निर्ग्रन्थों का उल्लेख मिलता है वे ग्रंथ उस समय के हैं जब कि यापनीयसंघ और आधुनिक सम्प्रदाय तक प्रकट हो चुके थे। 'डायोलोग्स ऑव् बुद्ध' नामक पुस्तक के ऊपर से बौद्ध ग्रंथों में वर्णित कुछ आचार ' भगवान महावीर और महात्मा बुद्ध' नामक पुस्तक में (पृष्ठ 61-65) दिये गये हैं, जिनमं 'नग्न रहने और हाथ में खाने का भी उल्लेख है। पुस्तक के लेखक बाबू कामताप्रसाद की दृष्टि में से आचार प्राचीन जैन साधुओं के हैं; परन्तु वास्तव में यह बात नहीं है। मज्झिमनिकाय में साफ-साफ लिखा गया है कि ये आचार आजीवक संघ के नायक गोशालक तथा उनके मित्र नन्दवच्छ और किस्ससंकिच्च के हैं जिनका बुद्ध के समक्ष निग्गंथश्रमण सच्चक ने वर्णन किया था।

6. दिगम्बरों के पास प्राचीन साहित्य नहीं है[1]। इनका प्राचीन से प्राचीन साहित्य आचार्य कुन्दकुन्द के ग्रंथ हैं जो कि विक्रम की छठी सदी की कृति हैं।

उपर्युक्त एक-एक बात ऐसी है जो वर्तमान दिगम्बर सम्प्रदाय को अर्वाचीनता की तरफ लाती हुई विक्रम की छठी सदी तक पहुँचा देती है।

इनके अतिरिक्त स्त्री तथा शूद्रों को मुक्ति[2] के लिये अयोग्य मानना, जैनों के सिवा दूसरों के घर जैन साधुओं के लिए आहार लेने का निषेध, आहवनीयादि अग्नियों की पूजा, सन्ध्या, तर्पण, आचमन और परिग्रहमात्र का त्याग करने का आग्रह करते हुए भी कमण्डलु प्रमुख शौचोपधि का स्वीकार करना आदि ऐसी बातें हैं जो दिगम्बर संप्रदाय के पौराणिक कालीन होने की साक्षी देती हैं।

श्वेतांबर जैन आगमों में जबकि पुस्तकों को उपधि में नहीं गिना और उनके

1. यतिवृषभ की 'तिलोय पन्नति' आदि कुछ ग्रंथ कुन्दकुन्द के पूर्व के होने संभवित हैं। परन्तु यह साहित्य इतना कम और एकदेशीय है कि इससे दिगम्बर संप्रदाय का निर्वाह कठिन है।
2. स्त्री मुक्ति का स्पष्ट और कट्टरतापूर्ण विरोध पहले पहल कुन्दकुन्द के ही ग्रंथों में दिखआई देता है।

रखने में प्रायश्चित विधान किया गया है, तब नाम मात्र भी परिग्रह न रखने के हिमायती दिगम्बर-ग्रन्थकार साधु को पुस्तकोपधि रखने की आज्ञा देते हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि साधुओं में पुस्तक रखने का प्रचार होने के बाद यह सम्प्रदाय व्यवस्थित हुआ है।

श्वेतांबर जैन आगम और दिगम्बर ग्रंथों का परिशिलन

ऊपर कई बार यह उल्लेख किया गया है कि दिगम्बर-संप्रदाय भी पहले उन्हीं आगमों को प्रमाण मानता था जिन्हें आजतक श्वेताम्बर जैन मानते आये हैं; परन्तु छठी शताब्दी से जबकि बहुत सी बातों में अन्तर पड़ गया और खासकर स्त्रीमुक्ति, केवलिमुक्ति और सवस्त्रमुक्ति आदि बातों की एकान्त निषेध-प्ररूपणा के बाद उन्होंने इन आगमों को अप्रमाणिक कह कर छोड़ दिया है और नई रचनाओं से अपनी परम्परा को विभूषित किया।

वर्तमान आगमों की प्रामाणिकता और मौलिकता के विषय में हम यहाँ कुछ भी नहीं लिखेंगे, क्योंकि हमारे पहले ही जैन आगमों के प्रगाढ़ अभ्यासी डाक्टर हर्मन जेकोबी जैसे मध्यस्थ यूरोपीय स्कालरों ने ही इन आगमों को वास्तविक 'जैनश्रुत' मान लिया है और इन्हीं के आधार से जैन धर्म की प्राचीनता सिद्ध करने में वे सफल हुए हैं। इस बात को बाबू कामताप्रसाद जैन जैसे दिगम्बर विद्वान् भी स्वीकार करते हैं। वे 'भगवान् महावीर' नामक अपनी पुस्तक की प्रस्तावना में लिखते हैं-'जर्मनी के डा. जेकोबी सदृश विद्वानों ने जैन शास्त्रों को प्राप्त किया और उनका अध्ययन करके उनको सभ्य संसार के समक्ष प्रकट भी किया। ये श्वेताम्बराम्नाय के अङ्ग ग्रंथ हैं और डा. जेकोबी इनको वास्तविक जैन श्रुतशास्त्र समझते हैं।'

हम यह दावा नहीं करते कि जैनसूत्र जिस रूप में महावीर के मुख से निकले थे उसी रूप में आज भी हैं और न हमारे पूर्वाचार्यों ने ही यह दावा किया है, बल्कि उन्होंने तो किस प्रकार भिन्न-भिन्न समयों में अंगसूत्र व्यस्थित किये और लिखे गये यह भी स्पष्ट लिख दिया है।

गुरु-शिष्य क्रम से आये हुए सूत्रों की भाषा और शैली में हजार आठ सौ वर्ष में कुछ भी परिवर्तन न हो यह संभव भी नहीं है। यद्यपि सूत्र में प्रयुक्त प्राकृत उस समय की सीधी सादी लोक भाषा थी; परन्तु समय के प्रवाह के साथ ही उसकी सुगमता ओझल होती गई और उसे समझने के लिये व्याकरणों की आवश्यकता हुई। प्रारम्भ में व्याकरण तत्कालीन भाषानुगामी बने; परन्तु पिछले समय में ज्यों-ज्यों प्राकृत का स्वरूप अधिक मात्रा में बदलता गया त्यों-त्यों व्याकरणों ने भी उसका अनुगमन किया। फल यह हुआ कि हमारी सौत्र प्राकृत पर भी उसका असर

पड़े बिना नहीं रहा। यही कारण है कि कुछ सूत्रों की भाषा नयी सी प्रतीत होती है।

प्राचीन सूत्रों में एक ही आलापक, सूत्र और वाक्य को बार-बार लिखकर पुनरूक्ति करने का एक साधारण नियम सा था। यह उस समय की सर्वमान्य शैली थी। वैदिक, बौद्ध और जैन उस समय के सभी ग्रंथ इसी शैली में लिखे हुए हैं, परन्तु जैन आगमों के पुस्तकारूढ़ होने के समय यह शैली कुछ अंशों में बदल कर सूत्र संक्षिप्त कर दिये गये और जिस विषय की चर्चा एक स्थल में व्यवस्थित रूप से हो चुकी थी उसे अन्य स्थल में संक्षिप्त कर दिया गया और जिज्ञासुओं के लिये उसी स्थल में सूचना कर दी गई कि यह विषय अमुक सूत्र अथवा स्थल में देखना। इसके अतिरिक्त कुछ ऐसी भी बातें जो उस समय तक शास्त्रीय मानी जाने लगी थीं, उचित स्थान में यादी के तौर पर लिख दी गई जो आजतक उसी रूप में दृष्टिगोचर होती है और अपने स्वरूप से ही वे नयी प्रतीत होती है।

जैन सूत्रों में जो कुछ परिवर्तन हुआ है उसकी रूपरेखा ऊपर मुजब है। इसके अतिरिक्त इन सूत्रों में कुछ भी रद्दोबदल नहीं हुआ। दिगम्बर-संघ उक्त कारणों से ही इन आगमों को अप्रामाणिक नहीं कह सकता था। इसलिये उसने आगम-विषयक कई नयी परिभाषाएँ बाँधी और उनके आधार पर वर्तमान आगमों को अप्रामाणिक करार दिया। उदाहरण के तौर पर हम एक परिभाषा का यहाँ विवेचन करेंगे।

प्राचीन पद्धति के अनुसार जैनसूत्रों की 'पद' संख्या निश्चित करके लिख दी गयी है। यह 'पद' संख्या श्वेताम्बर और दिगम्बर जैनों संप्रदायों में नीचे मुजब भिन्न-भिन्न हैं :-

	श्वेताम्बर सम्मत पदसंख्या	**दिगम्बर सम्मत पद संख्या**
1. आचाराङ्गसूत्र	18000	18000
2. सूत्रकृताङ्ग	36000	36000
3. स्थानाङ्ग	72000	42000
4. समवायाङ्ग	144000	164000
5. व्याख्याप्रज्ञप्ति	288000	228000
6. ज्ञाताधर्मकथाङ्ग	576000	556000
7. उपासकदशाङ्ग	1152000	1170000

8. अंतकृद्दशाङ्ग	2304000	2328000
9. अनुत्तरोपपातिकदशाङ्ग	4608000	9244000
10.प्रश्नव्याकरणाङ्ग	9216000	9316000
11.विपाकसूत्राङ्ग	18432000	18400000
	जोड़ =36846000	जोड़ = 41502000

हमने उपर्युक्त श्वेताम्बरीय पदसंख्या नन्दीटीकानुसार दी है और दिगम्बर पदसंख्या गोम्मटसारानुसार। दोनों में 4654000 पदों का अन्तर है। दिगम्बरों ने इतने पद अधिक माने हैं, परन्तु दोनों सम्प्रदायों में खास विशेषता तो 'पद' की व्याख्या में हैं।

श्वेताम्बर टीकाकार 'पद' का अर्थ 'अर्थ बोधक शब्द' अथवा 'जिसके अन्त में विभक्ति हो वह पद' यह कहते हैं, जो कि व्यावहारिक है; परन्तु दिगम्बराचार्यों ने प्रस्तुत पद की जो परिभाषा बाँधी है, वह एकदम अलौकिक है। वे कहते हैं- 'सूत्रों का पद' वह कहलाता है, जिसमें सोलह सौ चौतीस करोड़ तिरासी लाख सात हजार आठ सौ अठासी (16348307888) अक्षर हों।' गोम्मटसार की निम्नलिखित गाथा देखिये-

'सोलह सय चउतीसा, कोडी तियसीदिलक्खयं चैव।

सत्तसहस्सट्ठसया, अट्ठासीदीय पदवण्णा।।1।।'

इस हिसाब से दिगम्बरों के एक ही श्रुत पद के बत्तीस अक्षरात्मक इक्यावन करोड़ आठ लाख चौरासी हजार छः सौ और साढ़े इक्कीस (510884621।।) श्लोक होते हैं। क्या कोई कहेगा कि इतने श्लोक वाला एक श्रुतपद भी पढ़ने को कोई मनुष्य समर्थ हो सकता होगा? कभी नहीं सच बात तो यह है कि उक्त 'पद-परिभाषा' एक कल्पना है और वह इसलिये गढ़ी गई है, कि श्रुतज्ञान को इतना बड़ा समुद्र बताकर उसके लिखने की अशक्यता सिद्ध की जाय और श्वेतांबरों से कह दिया जाय कि 'तुमने जो आगम लिखे हैं, वे असली नहीं हैं। असल आगम इतने बड़े होते हैं कि उन्हें कोई लिख ही नहीं सकता।' परन्तु दिगम्बरों की इस लोकोत्तर कल्पना को मनुष्यों की दुनिया में रहनेवाला तो कोई भी विचारक मानने को तैयार नहीं होगा। एक यही नहीं, ऐसी अनेक नयी परिभाषाओं की सृष्टि करके परम्परागत जैन आगमों को अप्रामाणिक ठहराने और उनपर से लोगों की श्रद्धा

हटाने की चेष्टाएं की गई है।

अब हम यह देखेंगे कि कबतक तो दिगम्बर शाखा ने जैन आगमों को माना और कब इनको मानने से इनकार किया।

'यापनीय संघ' था, जो श्वेताम्बरीय-परम्परा के आचार-विचार का अनुसरण करने वाला और कतिपय जैन आगमों को भी माननेवाला था। परन्तु पिछले दिगम्बराचार्य यापनीय-संघ-विषयक अपना पूर्व सम्बन्ध भूल गये और नग्नता के समर्थक होते हुए भी श्वेताम्बरीय आगम और आचार विचारों के कारण उसे 'खच्चर' तक की उपमा देने में न सकुचाये। देखिये षट्प्राभृत की टीका में श्रुतसागर सूरि के निम्नोद्धृत वाक्य-

'यापनीयास्तु वेसरा इवोभयं मन्यन्ते, रत्नत्रयं पूजयन्ति, कल्पं च वाचयन्ति, स्त्रीणां तद्भवे मोक्षं, केवलिजिनानां कवलाहारं, परशासने सग्रन्थानां मोक्षं च कथयन्ति।'

ऊपर के उल्लेख में यापनीयों को खच्चर की उपमा देने में श्रुतसागरसूरि ने जो अनेक कारण बताये हैं, उनमें 'कल्पवाचना' भी एक है। श्वेताम्बर-परम्परा में वार्षिक पर्व के अवसर पर 'कल्पवाचना' की रीति ठेठ से चली आती है। यही रीति यापनीयों में भी थी। इससे सिद्ध होता है कि शिवभूति ने अपनी नग्नपरम्परा अवश्य चलाई थी, पर उन्होंने प्राचीन आगमों को नहीं ठुकराया था।

भगवती-आराधना नामक एक प्रसिद्ध दिगम्बरीय परम्परा के ग्रंथ में श्वेताम्बरीय निर्युक्तियों तथा भाष्यों की पच्चासों गाथाएँ आज तक ज्यों की त्यों अथवा नाम मात्र के फेरफार के साथ उपलब्ध होती हैं। स्थल संकोच के कारण इन सब गाथाओं की यहाँ चर्चा करना अशक्त है। मात्र दृष्टान्त के तौर पर दो एक गाथाओं के विषय में यहाँ कुछ लिखेंगे।

श्वेताम्बर मान्य कल्पनिर्युक्ति की दशकल्पप्रतिपादिका निम्नलिखित गाथा भगवती आराधना के 181 वें पृष्ठ पर दृष्टिगोचर होती है-

''[1]आचेलक्कु [2]द्देसिय, सेज्जा [3]यर-राय [4]पिंड, [5]परियम्मे ([6]किदिकम्मे) [7]वदजेट्ठ [8]पडिक्कमणे, [9]मासं [10]पज्जोसवणकप्पो ।।427।।

उक्त गाथा में 1 आचेलक्य, 2 औद्देशिकपिंड, 3 शय्यातरपिण्ड, 4 राजपिण्ड, 5 कृतिकर्म (वन्दन), 6 महाव्रत, 7 ज्यैष्ठ्य, 8 प्रतिक्रमण, 9 मास और 10 पर्युषण, इन दस कल्पों का उल्लेख है, जो श्वेताम्बर-सम्प्रदाय में अति

प्रसिद्ध हैं और पूर्वकाल में दिगम्बर-शाखा में भी ये ही दस कल्प प्रचलित होंगे। इस गाथा के स्वीकार से ऐसा मालूम होता है। परन्तु पिछले नये दिगम्बर सम्प्रदाय में से उक्त कल्पों में से कुछ कल्प लुप्त हो गये हैं। यों तो इनमें से बहुत से कल्पों की व्याख्या टीकाकारों ने यथार्थ नहीं की; परन्तु नवें और दसवें कल्प की तो उन्होंने काया ही पलट दी है।

विद्वान् पाठकों के अवलोकनार्थ हम अन्तिम दो कल्पों की वसुनन्दी श्रमणाचार्य कृत व्याख्या नीचे उद्धृत करते हैं। 'मासो योगग्रहणात् प्राङ्मा-समात्रमवस्थानं कृत्वा वर्षाकाले योगो ग्राह्यस्तथा योगं समाप्य मासमात्रमवस्थानं कर्तव्यं लोकस्थितिज्ञापनार्थमहिंसादिव्रतपरिपालनार्थं च योगात्प्राङ्मासमात्रा-वस्थानं पश्चाच्च मासमात्रावस्थानं श्रावकलोकादिसंक्लेशपरिहरणाय, अथवा ऋतौ मासमात्रं स्थातव्यं मासमात्रं च विहरणं कर्तव्यं इति मासः श्रमणकल्पोऽथवा वर्षाकाले योग्यग्रहणं चतुर्षु चतुर्षु मासेषु नन्दीश्वरकरणं च मासश्रमणकल्पः।

पज्जो-पर्या पर्युपासनं निषद्यकायाः पंचकल्याणस्थानानां च सेवनं 'पर्ये'-त्युच्यते। श्रमणस्य श्रामण्यस्य वा कल्पो-विकल्पः श्रमण-कल्पः। (मूलाचार भा. 2 पृ. 104-105)

टीकाकार मासकल्प के तीन अर्थ लगाते हैं और वे भी 'अथवा' कह कर पूर्व-पूर्व को रद्द करके-पहले कहते हैं-'चातुर्मास्य के पहले एक मास जहाँ रहें वहीं वर्षाचातुर्मास्य करना और चातुर्मास्य के बाद फिर मास भर नहीं रहना उसका नाम मासकल्प है।' इस अर्थ पर निर्भर न रहते हुए वे 'अथवा' कहकर फिर कहते हैं-'एक-एक ऋतु में एक-एक मास ठहरना और एक-एक मास विहार करना यह मासकल्प है।' परन्तु इस अर्थ पर भी उनको पूरा विश्वास नहीं आता और तीसरा अर्थ लगाते हुए कहते हैं-'चार-चार मास में योगग्रहण और नन्दीश्वर करना मासकल्प है।'

कितनी अनिश्चित और असंगत व्याख्या है? क्या कोई कह सकता है कि छः मास तक एक स्थान पर रहना 'मासकल्प' कहा जा सकता है? अथवा चार मास में होने वाली कोई क्रिया 'मासकल्प' का नाम पा सकती है?

अब 'पज्जोसवणकप्पो' शब्द की हालत सुनिये। टीकाकार 'पज्जो' शब्द को अलग करके उसका संस्कृत 'पर्या' बनाते हैं और उसकी व्याख्या करते हैं 'पर्यपासना'; परन्तु उन्हें यह तो सोचना था कि 'पज्जो' का संस्कृत 'पर्यः' बनेगा

या 'पर्या'; फिर पर्या शब्द की सिद्धि में और उसका 'पर्युपासना' अर्थ करने में किसी कोष या व्याकरण का भी आधार है या नहीं? परन्तु इसकी क्या कहें, 'कल्प' का भी अर्थ वे 'विकल्प' करते हैं, जिसका कि यहाँ कोई प्रसंग नहीं। इन बातों से क्या उन्होंने अपनी स्थिति स्पष्ट नहीं कर दी है कि इन परिभाषाओं को समझने के लिये उनके पास कोई परम्परागत आम्नाय नहीं है?

हम देख आये हैं कि शिवभूति के समय में ही कितने ही गुरुआम्नायों से यह शाखा वंचित हो चुकी थी और शेष जो आचार-विचार और आम्नाय प्रचलित थे उनमें से भी बहुत से यापनीय संघ से अलग होते समय छूट गये। फलतः श्वेताम्बर -साहित्य से ली हुई कई गाथाओं का वे वास्तविक अर्थ नहीं पा सके और कल्पनाबल से नये-नये अर्थ लगाते हुए प्राचीन स्थविर-परम्परा से बहुत दूर निकल गये।

अब हम एक अन्य गाथा का उल्लेख करेंगे जो भगवती आराधना में (पृष्ठ 392) दृष्टिगोचर होती है, पर वास्तव में श्वेताम्बरीय शाखा के बृहत्कल्पभाष्य की है-

''देमासासियसुत्तं, आचेलक्कं ति तं खु ठिदिकप्पे।
लुत्तोत्थ आदिसद्दो, जह तालपलंबसुत्तम्मि ।।1123।।''

इस गाथा के चतुर्थ चरण में प्रयुक्त, तालप्रबंध सूत्र के नामोल्लेख से यह बात निर्विवाद सिद्ध हो जाती है कि यह गाथा श्वेताम्बरीय है, क्योंकि इसमें जिस तालप्रबंध सूत्र का उल्लेख किया गया है वह श्वेताम्बरीय 'बृहत्कल्प' का प्रथम सूत्र है और आज तक उपलब्ध होता है।

इसी भगवती आराधना में एक 'जहणा' नामक अधिकार है जिसमें साधु के मृत शरीर को त्यागने की विधि है। यह सारा का सारा अधिकार श्वेताम्बरीय आवश्यकनिर्युक्त्यन्तर्गत 'पारिठावणियाविधि' की मूलगाथाओं और प्राकृतचूर्णि के आधार पर से कुछ फेरफार के साथ संकलित किया गया है, तथापि गुरु सम्प्रदाय न होने के कारण दिगम्बराचार्य कहीं कहीं निर्युक्तिगत गाथाओं का भाव नहीं समझ सके। पाठकों के मनोविनोदार्थ हम एक दो गाथाओं की यहाँ चर्चा करेंगे।

पारिठावणियाविधिकार विधान करते हैं, 'जहाँ साधु का शव परठना (छोड़ना) हो वहाँ कुश का संथारा (पथारी) करना चाहिये। कुश के अभाव में

'चूर्ण' अथवा 'केसर' से उस स्थान में 'ककार' करना और उसके नीचे 'तकार' बाँधना।' इस विषय का प्रतिपादन करनेवाली गाथायें नीचे मुजब हैं-

''कुसमुट्ठीएगाए, अव्वोच्छिण्णाइ तत्थ धाराए।
संथारं संथरेज्जा, सव्वत्थ समो उ कायव्वो।।48।।

जत्थ य नत्थि तणाइं, चुण्णेहिं तत्थ केसरेहिं वा।
कायव्वोऽत्थ करारो, हेट्ठ तकारं च वंधेज्जा।।51।।''

(आवश्यक सूत्र पृ. 635)

ये ही गाथाएँ कुछ फेरफार के साथ भगवती-आराधना में नीचे मुजब उपलब्ध होती हैं-

''तेण कुसमुट्ठिधाराए, अव्वोच्छिण्णाए, समणिवादाए।
संथारो कादव्वो, सव्वत्थ समो सगि तत्थ।।1980।।

(भ. आ. 635)

असदि तर्णे चुण्णेहिं व, केसरिच्छारिट्ठिकादिचुण्णेहिं।
कादव्वो थ ककारो, उवरे हिट्ठा तकारो से।।1988।।

(भगवती-आराधना 637)

इसमें पारिठावणिया-विधिकार 'ककार' करना और उसके नीचे 'तकार' बाँधना कहते हैं, जिसका तात्पर्य यह है कि वहाँ पर वासचूर्ण अथवा केसर से 'पुतना' करना चाहिये। मौर्यकाल में 'क' और 'त' का संयोग ' ' इस प्रकार पुत्तलक के रूप में होता था। पुतला बनाना ऐसी स्पष्टोक्ति न कर इस प्रकार अन्योक्ति में पुत्तलक-विधान किया। इसका कारण यह है कि पुत्तलक बनाना शिल्पी या होशियार मनुष्य का काम है। हर एक साधु इस काम में होशियार नहीं होता। परन्तु संयुक्त ' ' लिखना सभी जानते थे इसलिये 'क' के नीचे 'त' बाँधने के कथन द्वारा 'पुत्तलक' निर्माण का भाव बताने में ग्रंथकार ने बड़ी बुद्धिमानी की। इस उक्ति का भाव भगवती-आराधनाकार की समझ में नहीं आया क्योंकि वे विक्रम की पाँचवी छठी सदी के ग्रन्थकार थे और 'क' और 'त' का संयोग विक्रम की दूसरी सदी के पहले ही अपना 'पुत्तलक' आकार बदल चुका था। अतएव उन्होंने प्रकरण और शब्दों को बदलकर अर्थ में अस्पष्टता उत्पन्न कर दी है।

उक्त गाथा में 'तकार-ककार' के संयोग से पुत्तलक का विधान प्रतिपादन

करने से पारिठावणियाविधिकार श्वेताम्बरस्थविर की प्राचीनता का भी पता चल जाता है कि वे विक्रम की दूसरी सदी के पहले के आचार्य थे।

दिगम्बर सम्प्रदाय के विद्यमान प्राचीन, ग्रंथों में वट्टकेराचार्यकृत 'मूलाचार' भी एक है। इस मूलाचार के पंचाचाराधिकार में कुल 222 गाथाएँ हैं जिनमें 60 गाथाएँ अक्षरशः भगवती-आराधना की है। कुछ श्वेताम्बर आगमों की और कुछ ग्रंथकार की स्वनिर्मित हैं।

'समाचाराधिकार' में कुछ गाथाएँ भगवती-आराधना की, कुछ श्वेताम्बरीय आवश्यकनिर्युक्ति की और कुछ स्वनिर्मित हैं।

'पिण्डविशुद्ध्यधिकार' में मौलिक गाथाएँ श्वेताम्बरीय पिण्डनिर्युक्ति की ही हैं। हाँ, कही-कहीं उनकी व्याखय अपने सम्प्रदायानुसार अवश्य बदल दी गई है।

'पर्याप्त्यधिकार' में कहीं-कहीं आवश्यकनिर्युक्ति की गाथाएँ दृष्टिगोचर होती हैं। दोनों 'प्रत्याख्यानसंस्तारस्तवाधिकारों' में श्वेताम्बरीय 'पइन्नों' की अनेक गाथाएँ ज्यों-की-त्यों संग्रह की गई हैं।

'समयसाराधिकार' में आवश्यकनिर्युक्ति और दशवैकालिकसूत्र की गाथाएँ उपलब्ध होती हैं।

मूलाचार का षडावश्यकाधिकार श्वेताम्बरीय आवश्यकनिर्युक्ति का ही संक्षिप्त संग्रह है। इसमें कुल 193 गाथाएँ है जिनमें से 77 गाथाएँ आवश्यकनिर्युक्ति की हैं और 8 आवश्यकभाष्य की। इनमें 15-20 गाथाएँ कुछ विकृत कर दी गई हौं और जहाँ साम्प्रदायिक मतभेद थ वहाँ गाथा को अपनी मान्यता के अनुकूल बना दिया है। शेष गाथाएँ आवश्यकनिर्युक्ति और भाष्य का संक्षिप्त सार लेकर स्वतंत्र निर्माण की गई हैं। परन्तु सामान्य रूप से से इन सब पर शौरसेनी का असर डालने के लिये 'त' के स्थान पर 'द' अवश्य बना दिया गया है। मूलाचार की रचना हुई उसके बहुत पहले ही जैन आगम लिखे जा चुके थे इसलिए ग्रंथकार को कतिपय श्वेताम्बर आगम तो मिल गये पर परम्परागत अर्थाम्नाय नहीं मिला। इस कारण कई प्रकरण और परिभाषाएँ कल्पनाबल से समझने की चेष्टा करनी पड़ी जिसमें कई जगह वे सफल नहीं हुए। उदाहरण के तौर पर 'सामाचारी' प्रकरण को ही लीजिये।

प्राचीन शब्द 'सामाचारी' का वास्तविक अर्थ न समझने के कारण उसके स्थान पर वट्टकेर ने 'सामाचार' शब्द गढ़ा और उसके प्रतिपादन के लिए कुछ फेरफार के साथ निम्नलिखित आवश्यकनिर्युक्ति की गाथायें लिख दीं-

''इच्छामिच्छाकारो, तधाकारो य आसिआ णिसिही।
आपुच्छा पडिपुच्छा, छंदण सनिमंतणा य उवसंपा।।125।।

इट्ठे इच्छाकारो, मिच्छाकारो तहेव अवराहे।
पडिसुणणह्मि तहत्ति य, णिग्गमणे आसिआ भणिआ।।126।।

पविसंते य णिसीही, आपुच्छणिया सकज्ज आरम्भे।
साधम्मिणा य गुरुणा, पुव्वणिसिद्धंमि पडिपुच्छा।।127।।

छंदण गहिदे दव्वे अगहिददव्वे णिमंतणा भणिया।
तुह्ममहं ति गुरुकुले, आदणिसग्गो दु उवसंपा।।128।।

इसमें 125वीं गाथा आवश्यकनिर्युक्ति की 666वीं गाथा और 667वीं गाथा के प्रथमचरण का संक्षेप है और बाद की 126-127-128 इन तीन विवरण गाथाओं में कुछ में तो आवश्यकनिर्युक्ति का अनुसरण है और कुछ में स्वतंत्रता है। स्वतंत्रता आने का कारण कुछ तो सांप्रदायिकता और कुछ आम्नायानभिज्ञता हुई है।

सामाचारी के पहले भेद 'इच्छाकार' का पारिभाषिक अर्थ यह है कि साधु अपना कुछ भी कार्य अन्य साधु को कहे तो 'इच्छाकारेण (इच्छा से अर्थात् तुम्हारी इच्छा हो तो) अमुक कार्य करो' इस प्रकार शब्द प्रयोग करे; पर आदेश के रूप में किसी को हुक्म न करे। आचार्य वट्टकेर या तो इस भाव को समझ ही नहीं पाये और अगर समझे हैं तो जान बूझकर उन्होंने इसका अर्थ बदल दिया है। क्योंकि नग्न, करपात्र और निष्प्रतिकर्म साधु के लिये ऐसा कोई कार्य ही नहीं होता जो अन्य साधु से करवाया जाय। इस विचार से उन्होंने 'इच्छाकार' का अर्थ किया 'इट्ठे इच्छाकारो' अर्थात् इष्ट का कार्य करने की इच्छा करना, परन्तु यह नहीं सोचा की - 'इच्छा करना' यह सामाचारी या सामाचार कैसे हो सकेगा?

शुभ कार्य करने की इच्छा करना यह जीवमात्र का कर्तव्य है। ऐसे सर्वसाधारण मानसिक विचारमात्र को 'साधु सामाचार' कहना कुछ भी अर्थ नहीं रखता। इसी प्रकार 'आवसिया' शब्द को बिगाड़ कर 'आसिआ' बना दिया है जिसके अर्थ की कुछ भी संगति नहीं होती। 'छंदण' और 'निमन्तणा' का अर्थ मूलगाथा में बिलकुल अस्पष्ट है। 'छंदण गहिदे दव्वे अगहिददव्वे णिमंतणा' ये मूल गाथा के शब्द हैं। जिनका शब्दार्थ ग्रहण किये हुए द्रव्य में छंदना और अगृहीत द्रव्य में निमंत्रणा' होता है; परन्तु इन शब्दों से कुछ भी विशिष्ट अर्थ नहीं

निकलता। हाँ, इस विषय का आगे जाकर कुछ स्पष्टीकरण अवश्य किया है पर वहाँ भी अर्थ संगति नहीं होती। सामान्य रीति से दोनों परिभाषाओं का अर्थ बिगाड़ दिया है, पर 'निमन्त्रणा' की तो और भी मिट्टी पलीद कर दी है। इस पद की निम्नोद्धृत विवरण गाथा देखिये-

'गुरु साहम्मियदव्वं, पुत्थयमण्णं च गेण्हिदुं इच्छे।
तेसिं विणयेण पुणो, णिमंतणा होई कायव्वा।।138।। (पृ. 122)

अर्थात् ''गुरु और साधर्मिक-सम्बन्धी पुस्तक अथवा अन्य कोई पदार्थ ग्रहण करना चाहे तो उनको विनयपूर्वक निमंत्रण करना चाहिये।'' देखिये, कैसी अर्थसंगति बिगड़ गई है? 'निमंत्रणा' कुछ भी पदार्थ देने के लिये पहले की जानेवाली प्रार्थना का नाम है न कि 'याचना' का। टाकाकार ने निमन्त्रा का अर्थ 'याचना' करके अर्थ संगति करने की चेष्टा की है पर निमन्त्रणा शब्द का ऐसा अर्थ करना कुछ भी प्रामाणिकता नहीं रखता।

आहार-पानी आदि श्रमणोपयोगी पदार्थ लाकर 'इसमें ये इच्छा हो सो लीजिये, इस प्रकार अन्य साधु की प्रार्थना करना उसका छंदना कहते हैं और आहार पानी आदि लेने जाते समय 'आपके लिये में लाऊँगा' इस प्रकार अन्य साधु को न्योता देना उसका नाम है 'निमंत्रणा'। परन्तु दिगम्बराचार्य इन परिभाषाओं का भाव नहीं समझ सके और कल्पनाबल से ही कुछ अर्थ सूझा वही लिख दिया।

श्वेताम्बर आगमों में ओघसामाचारी, दशविधसामाचारी और पदविभाग-समाचारी, ऐसे सामाचारी के तीन भेद कहे हैं। ओघनिर्युक्ति में जिस सामाचारी का निरूपण है वह ओघसामाचारी, इच्छामिच्छा आदि दशविधसामाचारी (इसको 'चक्रवाल सामाचारी भी कहते हैं) और कल्पव्यवहारादि छेद सूत्रोक्त आचार को पदविभागसामाचारी करते हैं।

यद्यपि वट्टकेर के पास आवश्यकनिर्युक्ति विद्यमान थी और उसमें 'त्रिविध सामाचारी' का उल्लेख भी था, तथापि वहाँ दसविधसामाचारी के अतिरिक्त अन्य सामाचारियों का कुछ भी वर्णन नहीं था। इस कारण दशविध सामाचारी के नाम निर्देश के बाद आये हुए निर्युक्तिकार के ''एएसिं तु पयाणं पत्तेयरूवणं वोच्छं'' (इन प्रत्येक पदों का निरूपण करूँगा) इस 'प्रत्येक पद' शब्द प्रयोग से उन्होने इन्हीं दस पदों के विवरण को 'पदविभाग सामाचारी' मानलिया; परन्तु फिर भी

सामाचारी के तीन भेद पूरे नहीं हुए तब त्रिविध सामाचारी के स्थान पर दो ही प्रकार का सामाचार मानकर रह गये।

इस प्रकार प्रकरणों की अपूर्णता, परिभाषाओं की अनभिज्ञता और अर्थ की असंगतियों का विचार करने से यह बात लगभग निश्चित हो जाती है कि दिगम्बर आचार्य ने दसविधसामाचारी की मौलिक बातें श्वेताम्बर-शाखा की आवश्यक-निर्युक्ति में से ली हैं और उसकी व्याख्या करते समय अर्थ बदलने की चेष्टा की है जिसमें से सफल नहीं हुए।

ऊपर के संक्षिप्त विवरण से ज्ञात हो जायगा कि मूलाचार की रचना दशवैकालिक, महापच्चक्खाणादि पइन्नय, आवश्यकनिर्युक्ति और आवश्यक भाष्यादि अनेक श्वेताम्बर-सम्प्रदाय के आगम और भगवती आराधनादि कतिपय दिगम्बर सम्प्रदाय के मान्य एसे यापनीय ग्रंथों के आधार पर विक्रम की सातवीं सदी के आसपास में हुई है।

ऊपर हमने दिगम्बर सम्प्रदाय के जिन दो प्राचीन ग्रंथों की जो मीमांसा की है उससे तीन बातें स्पष्ट होती हैं-

1. विक्रम की पाँचवी सदी तक दिगम्बर सम्प्रदाय भी बहुधा श्वेताम्बर आगमों को ही मानता था।

2. प्रारम्भ में दिगम्बर-ग्रंथकार अपनी रचना में मुख्य आधार श्वेताम्बर जैनागमों का ही लेते थे।

3. परम्परागत कतिपय आगमिक परिभाषाओं का पता न लगने के कारण कहीं-कहीं दिगम्बर ग्रन्थकार अपनी कल्पना के काम लेते थे। जिसके फलस्वरूप वे कई बातों में श्वेताम्बर सम्प्रदाय से अलग हो गये।

यहाँ प्रश्न हो सकता है कि 'दिगम्बराचार्य श्वेताम्बर परम्परागत आगमों का आश्रय लेते थे' यह कहने के बदले यही क्यों न कहा जाय कि दिगम्बर ग्रंथों में जो श्वेताम्बर ग्रंथोक्त गाथाएँ दृष्टिगोचर होती हैं, वे वास्तव में ऐसे आगमों की होंगी जो श्वेताम्बर और दिगम्बरों के पृथक् होने के पहले के होंगे और दोनों सम्प्रदायों में परम्परा से चले आये होंगे।

ठीक है, यह कथन दशवैकालिक और आवश्यकनिर्युक्ति के सम्बन्ध में किसी तरह मान लिया जा सकता है; पर छेद, भाष्यों और आवश्यकभाष्य की गाथाओं के विषय में क्या समाधान किया जायगा? क्योंकि भाष्य साम्प्रदायिक

पृथक्त्व के बहुत पीछे के हैं। जिनका वट्टकेर ने उपयोग किया है। वस्तुतः उक्त ग्रंथों के निर्माण–समय में दिगम्बर संप्रदाय के पास परम्परागत दशवैकालिक और निर्युक्ति आदि ग्रंथों का भी अस्तित्व रहना सम्भव नहीं है। क्योंकि दिगम्बरीय सम्प्रदाय में इन ग्रंथकारों के बहुत पहले ही अंग और प्रकीर्णकों का विच्छेद हो चुका था।

शिवार्य पूर्वाचार्यों की रचनाओं का उपजीवन करके भगवती आराधना की रचना करने की बात कहते हैं और वट्टकेर भी सामायिकनिर्युक्ति को आचार्य–परम्परागत बताते हैं। फिर भी इससे यह मान लेना कुछ भी प्रमाण नहीं रखता कि ये ग्रंथ दिगम्बरीय होंगे। क्योंकि दिगम्बरों में न तो शिवार्य के पहले का कोई आराधना ग्रंथ ही है और न वट्टकेर के पहले की षडावशयकनिर्युक्ति है। इसके विपरीत श्वेताम्बर–परम्परा में 'महापच्चक्खाण' आदि अनेक अति प्राचीन आराधनाविषयक 'पइन्नय' ग्रंथ और दशवैकालिक आवश्यकनिर्युक्ति आदि प्राचीन आगम आज भी मौजूद हैं। इससे यह मानना ही युक्तिसंगत है कि दिगम्बर ग्रंथकार जिनका उपयोग करना स्वीकार करते हैं वे ग्रंथ श्वेताम्बर परम्परा के थे।

दिगम्बर ग्रंथों की उत्पत्ति का निर्णय

जिस प्रकार श्वेताम्बर परम्परा में मथुरा और वलभी में आगम पुस्तकारूढ होने सम्बन्धी वृत्तान्त उपलब्ध होता है। उसी प्रकार दिगम्बरों में भी पुण्ड्रवर्धन नगर में पुस्तक लिखने सम्बन्धी एक कथा है जो श्रुतावतार कथा के नाम से प्रसिद्ध है। यद्यपि यह कथा अधिक प्राचीन नहीं है तथापि इसमें आंशिक सत्यता अवश्य होनी चाहिये। चीनी परिव्राजक हुएनत्सांग जब पुण्ड्रवर्धन में गया था तो उसने वहाँ पर नग्न साधु सबसे अधिक देखे थे। इससे भी अनुमान होता है कि उस समय अथवा तो उसके कुछ पहले वहाँ दिगम्बर संघ का सम्मेलन हुआ होगा। यद्यपि कोई-कोई दिगम्बर विद्वान् उक्त सम्मेलन को कुन्दकुन्दाचार्य के पहले हुआ बताते हैं; परन्तु दिगम्बरीय पट्टावलियों की गणनानुसार यह प्रसंग कुन्दकुन्द के बहुत पीछे बना था। पट्टावलियों में कुन्दकुन्द से लोहाचार्य पर्यन्त के सात आचार्यों का पट्टाकाल निम्नलिखित क्रम से मिलता है-

1.	कुन्दकुन्दाचार्य	515-519
2.	अहिबल्याचार्य	520-565
3.	माघनन्द्याचार्य	566-593
4.	धनसेनाचार्य	594-614
5.	पुष्पदन्ताचार्य	615-633
6.	भूतबल्याचार्य	634-663
7.	लोहाचार्य	664-687

पट्टावलीकार उक्त वर्षों को वीरनिर्वाण संवत समझते हैं; परन्तु वास्तव में ये वर्ष विक्रमीय होने चाहिये, क्योंकि दिगम्बर परम्परा में विक्रम की बारहवीं सदी तक बहुधा शक और विक्रम संवत् लिखने का ही प्रचार था। प्राचीन दिगम्बराचार्यों ने कहीं भी प्राचीन घटनाओं का उल्लेख वीर संवत् के साथ किया हो यह हमारे देखने में नहीं आया तो फिर यह कैसे मान लिया जाय कि उक्त आचार्यों का समय लिखने में उन्होंने वीर संवत् का उपयोग किया होगा ? जान पड़ता है कि सामान्य रूप में लिखे हुए विक्रम वर्षों को पिछले पट्टावली लेखकों ने निर्वाणाब्द मान कर धोखा खाया है और इस भ्रमपूर्ण को यथार्थ मान कर पिछले इतिहास-विचारक भी वास्तविक इतिहास को बिगाड़ बैठे हैं।

यदि हम पट्टावलियों में लिखे हुए पट्टक्रम को ठीक न मान कर श्रुतावतार में दिये हुए श्रुतधर-क्रम को ठीक मान लें तो भी कुन्दकुन्द बहुत पीछे के आचार्य सिद्ध होंगे। क्योकि श्रुतावतार के लेखानुसार आरातीय मुनियों के बाद अर्हद्वलि आचार्य हुए थे। आरातीय मुनि वीर निर्वाण से 683 (विक्रम संवत् 213) एक विद्यमान थे। इसके बाद क्रमशः अर्हद्वलि, माघनन्दी, धरसेन, पुष्पदन्त, भूतबलि नामक आचार्य हुए। पुष्पदन्त और भूतबलि ने षट्खण्डागम सूत्र की रचना की। उधर गुणधर मुनि ने नागहस्ती और आर्यमंक्षु को कषायप्राभृत का संक्षेप पढ़ाया। उनसे यतिवृषभ ने और यतिवृषभ से उच्चारणाचार्य ने कषायप्राभृत सीखा और गुरु-परम्परा से दोनों प्रकार का सिद्धान्त पद्मनन्दि (कुन्दकुन्द) तक पहुँचा। श्रुतावतार के उपर्युक्त कथन से भी यही सिद्ध होता है कि अंग ज्ञान की प्रवृत्ति जो वीर सं. 683 (विक्रम सं. 213) तक चली थी उसके बाद अनेक आचार्यों के पीछे कुन्दकुन्द हुए थे।

हमारे इस विवेचन से विचारकगण समझ सकेंगे कि कुन्दकुन्दाचार्य विक्रम की छठी सदी के प्रथम चरण में स्वर्गवासी हुए थे और उनके बाद विक्रम की सातवीं सदी के मध्य भाग में दिगम्बर ग्रन्थ पुस्तकों पर लिख कर व्यवस्थित किये गये थे।

इन सब बातों के विचार के उपरान्त यह कहने में हमें कुछ भी संकोच नहीं होता कि दिगम्बर सम्प्रदाय के जो-जो आचार-विचार विषयक मौलिक[1] ग्रंथ हैं

1. दिगम्बर-संप्रदाय की श्रुतावतार कथाओं में कर्मप्रकृतिप्राभृत और कषायप्राभृत ग्रन्थों के निर्माण का जो वृत्तान्त दिया है। उससे भी हमें तो यही प्रतीत होता है कि इन ग्रंथों के क्रमशः ज्ञाता धरसेन और गुणधरमुनि प्राचीन स्थविर (श्वेताम्बर) परम्परा के स्थविर होना चाहिये, क्योंकि धनसेन का निवास गिरनार के पास बताया है जहाँ कि उस समय श्वेताम्बर परम्परा के आचार्य ही विचरते थे। गुणधरमुनि के नागहस्ती और आर्यमक्षु के कषायप्राभृत सीखने सम्बन्धी वृत्तान्त भी विचारणीय है, क्योंकि श्वेताम्बर-परम्परा में ही नागहस्ती और आर्यमंगु नामक दोनों आचार्यों का पता मिलता है, दिगम्बर परम्परा में नहीं। और खास ध्यान देने योग्य बात तो यह है कि दिगम्बर-संप्रदाय जिन धनसेन और गुणधर मुनि से अपने आगमों की उत्पत्ति हुई बताता है, उनके विषय में वह कुछ भी जानकारी नहीं रखता। श्रुतावतार में इन्द्रनन्दी कहते हैं-'धरसेन और गुणधर गुरु के वंश का पूर्वापर क्रम हम नहीं जानते, क्योंकि उनका क्रम कहनेवाला कोई आगम या मुनि नहीं है।' क्या आश्चर्य है कि ये दोनों श्रुतधर श्वेताम्बर परम्परा के हों और इसी कारण से दिगम्बर-परम्परा को इनके विषय में अधिक जानकारी न मिली हो।

वे श्वेताम्बर आगमों के आधार पर बने हैं और दिगम्बरों के दार्शनिक साहित्य की जड़ भी श्वेताम्बराचार्य वाचक उमास्वाति कृत सभाष्य तत्त्वार्थसूत्र ही है यह कहने की शायद ही आवश्यकता होगी।

एक बात और है। दिगम्बरों की मान्यतानुसार उनके धार्मिक ग्रंथों का आधार धनसेनाचार्य का 'कर्मप्रभृतिप्राभृत' और गुणधरमुनि का 'कषायप्राभृत' है। इन्हीं दो ग्रंथों की टीका चूर्णियों से उनका धार्मिक साहित्य पनपा है। परन्तु देखना यह है कि 'कर्मप्रकृतिप्राभृत' एक छोटा सा कर्मविषयक निबंध था। जिसे पुष्पदन्त और भूतबलि ने कुछ दिनों में ही धनसेन से पढ़ लिया था और कषायप्राभृत भी एक सौ तिरासी गाथात्मक मूल और तिरेपन गाथा प्रमाण उस पर विवरण था, तो इन दो छोटे से प्राचीन निबंधों से दिगम्बरों का धार्मिक साहित्य इतना विस्तृत कैसे हुआ? और सिर्फ 'कर्म' और 'कषाय' के प्रतिपादक इन दो ग्रंथों के आधार पर सर्व विषयक धार्मिक साहित्य कैसे रचा गया? हम समझते हैं कि हमारे समानधर्मियों ने अपने धार्मिक ग्रंथों के निर्माण में श्वेताम्बर-परम्परा के संगृहीत और लिखित साहित्य का खुल कर उपयोग किया है और इसी परम्परा के धार्मिक सूत्र प्रकरणों के आधार पर टीका, चूर्णियाँ और विविध विषय के ग्रंथ बनाकर अपना साहित्य भण्डार भरा है।

दिगम्बर सम्प्रदाय की पट्टावलियाँ

दिगम्बर जैन सम्प्रदाय की पट्टावलियों का आधार कुछ प्राचीन शिलालेख और कतिपय इनके ग्रंथ, जिनके नाम 'तिलोयपण्णत्ति', 'वेदना खण्ड की धवला टीका', 'जयधवला टीका', 'आदिपुराण' और 'श्रुतावतार कथा' हैं, इन सभी में दी हुई आचार्यपरम्पराएँ केवली, चतुर्दशपूर्वधर, दशपूर्वधर, एकादशांगधर, आचारांगधर और उसका एक अंश जानने वाले आचार्यों तक की हैं।

ले. नं. 1	ले. नं. 105	हरिवंश पुराण	
(अनुमित 7 शती)	श. सं. 1320	शक सं 705	
1. गौतम	1. इन्द्रभूति	1. गौतम	
2. लौहाचार्य	2. सुधर्मा	2. सुधर्मा	केवली 3
3. जम्बू	3. जम्बू	3. जम्बू	
1. विष्णुदेव	1. विष्णु	1. विष्णु	
2. अपराजित	2. अपराजित	2. नन्दिमित्र	
3. गौवर्धन	3. नन्दिमित्र	3. अपराजित	श्रुतकेवली 5
4. भद्रबाहु	4. गोवर्धन	4. गौवर्धन	
	5. भद्रबाहु	5. भद्रबाहु	
1. विशाख	1. क्षत्रिय	1. विशाख	
2. प्रौष्ठिल	2. प्रौष्ठिल	2. प्रौष्ठिल	
3. कृत्तिकार्य (क्षत्रिकार्य)	3. गंगदेव	3. क्षत्रिय	
4. जय	4. जय	4. जय	
5. नाम (नाग)	5. सुधर्म	5. नाग	
6. सिद्धार्थ	6. विजय	6. सिद्धार्थ	11 दशपूर्वी
7. धृतिषेण	7. विशाख	7. धृतिषेण	
8. बुद्धिलादि	8. बुद्धिल	8. विजय	
	9. धृतिषेण	9. बुद्धिल	
	10. नागसेन	10. गंगदेव	
	11. सिद्धार्थ	11. धर्मसेन	

उक्त उल्लेखों में इन आचार्यों का समय नहीं बतलाया तथापि इन्द्रनन्दी कृत 'श्रुतावतार' से जाना जाता है कि महावीर स्वामी के बाद 3 केवली 62 वर्षों में, 5 श्रुतकेवली 100 वर्षों में, 11 दशपूर्वी 183 वर्षों में, पाँच एकादशांगधर 220 वर्षों में और चार आचारांगधर 118 वर्षों में हुए हैं, इस प्रकार महावीर स्वामी के निर्वाण के बाद लौहाचार्य तक 683 वर्ष व्यतीत हुए थे।

ले.नं. 105, श. 1320	हरिवंश पु.	
1. नक्षत्र	1. नक्षत्र	एकादशांगधर 5
2. पाण्डु	2. यशःपाल	
3. जयपाल	3. पाण्डु	
4. कंसाचार्य	4. ध्रुवसेन	
5. द्रुमसेन (धृतिसेन)	5. कंसाचार्य	
1. लोह	1 सुभद्र	आचारांगधर 4
2. सुभद्र	2. यशोभद्र	
3. जयभद्र	3. यशोबाहु	
4. यशोबाहु	4. लौहाचार्य	

बहुत से लेखों में उपर्युक्त आचार्यों की परम्परा के बाद कुन्दकुन्दाचार्य की परम्परा लिखी गई है। किसी भी लेख में उपर्युक्त श्रुतज्ञानियों और कुन्दकुन्दाचार्य के बीच की पूरी गुरु-परम्परा नहीं पायी जाती, केवल उपर्युक्त लेख नं. 105 में ही इनके बीच के आचार्यों के कुछ नाम पाए जाते हैं, वे इस प्रकार हैं।

1. कुम्भ
2. विनीत
3. हलधर
4. वसुदेव
5. अचल
6. मेरुधीर
7. सर्वज्ञ
8. सर्वगुप्त
9 महीधर

10. धनपाल
11. महावीर
12. वीर
13. कौण्डकुन्द

नन्दी संघ की पट्टावली में कुन्दकुन्दाचार्य की गुरु-परम्परा इस प्रकार पायी जाती है।

भद्रबाहु
गुप्तिगुप्त
माघनन्दी
जिनचन्द्र (जिनभद्र)
कुन्दकुन्द

आचार्य इन्द्रनन्दी-कृत श्रुतावतार के अनुसार कुन्दकुन्द उन आचार्यों में हुए हैं, जिन्होंने अंगज्ञान के लोप होने के पश्चात् आगम को पुस्तकारूढ़ किया था।

आचार्य कुन्दकुन्द प्राचीन और नवीन परम्परा के बीच की एक कड़ी हैं, इनसे पहले जो भद्रबाहु आदि श्रुतज्ञानी हो गए हैं, उनके नाम मात्र के सिवाय उनके कोई ग्रंथ आदि अब तक प्राप्त नहीं हुए हैं। कुन्दकुन्दाचार्य के कुछ प्रथम जिन पुष्पदन्त भूतबलि आदि आचार्यों ने आगम को पुस्तकारूढ़ किया था, उनके भी ग्रंथों का अब तक कुछ पता नहीं चलता। परन्तु कुन्दकुन्दाचार्य के अनेक ग्रंथ हमें प्राप्त हैं। आगे के प्रायः सभी आचार्यों ने इनका स्मरण किया है और अपने को कुन्दकुन्दान्वयी कहकर प्रसिद्ध किया है।

अनुमित शक सं. 1022 के शिलालेख नं. 55 में कुन्दकुन्द को मूल संघ का आदि आचार्य लिखा है।

लेख नं. 105 की कुन्दकुन्दाचार्य की गुरु-परम्परा ऊपर दी जा चुकी है। आगे हम इसी लेख की कुन्दकुन्द के शिष्य की परम्परा देते हैं, वह इस प्रकार हैः

कुन्दकुन्द के शिष्यों की परम्परा

कुन्दकुन्द
उमास्वाति (गृीधपिच्छ)
बलाकपिच्छ
समन्तभद्र

शिवकोटि
देवनन्दी
भट्टाकलंक
जिनसेन
गुणभद्र
अर्हद्बलि

पुष्पदन्त भूतबलि
नेमिचन्द्र
माघनन्दी
(उनके वंश में)

सिद्धर वसति के शक सं. 1320 के लेख नं. 105 में भट्टाकलंक जिनसेन और गुणभद्रसूरि पर्यन्त पट्टावलि देने के बाद लेखक संघ-विभाजन की हकीकत लिखते हैं :

'यः पुष्पदन्तेन च भूतबल्या-ख्येनापि शिष्यद्वितयेन रेजे।
फलप्रदानाय जगज्जनानां, प्राप्तोंऽकुराभ्यामिव कल्पभूजः।।25।।

अहंद्बलिस्संघ चतुर्व्विधं स, श्रीकोण्डकुन्दान्यमूलसंघं।
कालस्वभावादिह जायमान-द्वेषेतराल्पीकरणाय चक्रे।।26।।

सिताम्बरादौ विपरीतरूपेऽखिले विसंघे वितनोतु भेदं।
तत्सेन-नन्दि-त्रिविवेश-सिंह-संघेषु यस्तं मनुते कुदृक्सः।।25।।

अर्थात्- 'लक्षण, व्यंजन, स्वर, आन्तरिक्ष, शारीरिक, छिन्नांग, भीम, शाकुन, अंगविद्या आदि निमित्तों से त्रिकालवर्ती सुख, दुःख, जय, पराजय आदि समस्त बातों को जानने वाले आचार्य अर्हद्बलि शिष्यद्वय से नवांकुर कल्पवृक्ष तुल्य पृथ्वी पर शोभित थे।ऐसे आचार्य अर्हद्बलि ने कालस्वभाव से होने वाले रागद्वेष को कम करने के लिए श्री कौण्डकुन्दान्वय मूल संघ को सेन, नन्दी, देव और सिंह इन चार विभागों में विभक्त किया, इन चारों में जो भेद मानता है, वह कुदृष्टि है।

उपर्युक्त लेख में अर्हद्बलि द्वारा मूल संघ को चार विभागों में बांटने की बात कही गई है। यह बात कहाँ तक सत्य हो सकती है, इसका निर्णय मैं विद्वान पाठकों

पर छोड़ता हूँ। क्योंकि एक तरफ तो दिगम्बर ग्रंथकार भूतबलि और पुष्यदन्त को आचार्य 'धरसेन' के पास पढ़ने की बात करते हैं और दूसरी तरफ पट्टावली और प्रशस्तिलेख उनके गुरु अर्हद्बलि द्वारा चार संघों का विभाजन करवाते हैं। इन बातों में काल का समन्वय किसी ने नहीं किया। क्या आचार्य 'धरसेन' और 'अर्हद्बलि' समकालीन थे? यदि यह बात नहीं है तो 'अर्हद्बलि' के समय में जिनका विभाजन किया गया है उन 'सेन', नन्दी', 'देव' और 'सिंह' नामक चार संघों का उत्पत्ति समय क्या है?, यह कोई बता सकता है? यदि सचमुच ही अर्हद्बलि के समय में चार संघ विभक्त हुए हैं, तो अर्हद्बलि का समय विक्रमीय अष्टम शती के पहले का नहीं हो सकता और इस स्थिति में 'भूतबलि' और 'पुष्पदन्त' ने 'धरसेन' से कर्मसिद्धान्त का ज्ञान-प्राप्त किया, इस कथन का मूल्य दन्तकथा से अधिक नहीं हो सकता।

एक विचारणीय प्रश्न यह भी है कि जिन धरसेन, अर्हद्बलि, पुष्पदन्त, भूतबलि, गुणधर, आर्य मंखू, नागहस्ती आदि आचार्यों का कर्म-सिद्धान्त 'कषायप्रभृत' 'षट्खण्डागम' आदि के साथ सम्बन्ध जोड़ा जाता है, इनका प्राचीन शिलालेखों में कहीं भी नाम-निर्देश तक नहीं मिलता, इसका कारण क्या हो सकता है? क्योंकि इतने बड़े भारी लेख- संग्रहों में अर्हद्बलि, भूतबलि और पुष्पदन्त का नाम निर्देश केवल एक शिलालेख में उपलब्ध होता है और जिस लेख में नाम मिलते हैं वह लेख भी शक सं. 1320 में लिखा हुआ है, अर्थात् विक्रम की पन्द्रहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में आता है। इस परिस्थिति को देखते हुए पूर्वोक्त आचार्यों के सम्बन्ध में जो सिद्धान्त लिखने की बातें प्रचलित हुई हैं, उनका आधार मात्र भट्टारक इन्द्रनन्दी की 'श्रुतावतार-कथा' है। इसके पहले के किसी भी श्वेताम्बर अथवा दिगम्बर सम्प्रदाय के ग्रंथ में उक्त बातों का उल्लेख नहीं मिलता और इन्द्रनन्दी ने 'श्रुतावतार' के सम्बन्ध में जो कुछ लिखा है, उसका मूल दन्तकथाओं से अधिक नहीं आंकना चाहिए।

श्रुतावतार कथा के अनुसार आरातीय मुनि वीर निर्वाण सं. 683 तक विद्यमान थे। इनके बाद अर्हद्बलि, माघनन्दी, धरसेन, पुष्पदंत और भूतबलि आयार्य हुए हों तो इन पाँच आचार्यों में कम से कम 125 वर्ष और बढ़ जाते हैं और वीर निर्वाण सं. 808 तक समय पहुँचता है। दोनों प्रकार के सिद्धान्त कुन्दकुन्दाचार्य तक पहुंचाने वाली गुरु परम्परा में भी पांच-छः आचार्य तो रहे ही होंगे और इस प्रकार निर्वाण के बाद की समय शृंखला लगभग दशवीं शती तक

पहुँचती है और इस प्रकार भी आचार्य कुन्दकुन्द का समय विक्रम की छठी शती के उत्तरार्ध तक पहुँच जाता है। इसके बाद लगभग 100 वर्षों के उपरान्त दिगम्बर जैन परम्परा के ग्रंथ पुस्तकों पर लिखे गये हों तो यह घटना विक्रम की सातवीं शती के मध्य भाग में पहुंचेगी। यहाँ तक हमने जो ऊहापोह किया है, वह दिगम्बरीय पट्टावलियों और दन्तकथाओं के आधार पर, यह ऊहापोह अन्तिम सिद्धान्त ही है यह दावा तो नहीं कर सकते, क्योंकि दिगम्बर पट्टावलियां तथा दन्तकथायें इतनी अव्यवस्थित और छिन्नमूलक हैं कि उनके आधार पर कोई भी सिद्धान्त निश्चित हो ही नहीं सकता। जितने भी दिगम्बरीय सम्प्रदाय के शिलालेख तथा ग्रंथप्रशस्तियाँ प्रकाशित हुई हैं, वे सभी विक्रम की नवमी शती और उसके बाद की हैं। इन शिलालेखों, ग्रंथ प्रशस्तियों के आधार से दिगम्बरों की अविच्छिन्न परम्परा सूचक पट्टावलियों का तैयार होना असम्भव है। निर्वाण से 683 वर्षों के अन्दर होने वाले केवलियों, श्रुतकेवलियों, दशपूर्वधरों, एकादशांगधरों और एकांगधरों की दी गई यादियां कहाँ तक ठीक हैं, यह कहना विचारणीय है। क्योंकि एक तो इनके सम्प्रदाय में मौलिक साहित्य नहीं, दूसरा ऐसी कोई पट्टावली नहीं कि जिसका विश्वास किया जाय।

उपर्युक्त केवलियों, श्रुतकेवलियों आदि के व्यक्तिगत सत्ता-समय के पृथक्-पृथक् वर्ष न देकर तीन, पाँच, ग्यारह आदि के वर्षों का समुदित पिण्ड बताना यह सूचित करता है कि ये सभी नाम इस परम्परा ने सैकड़ों वर्षों के बाद लिखे हैं। 'मूलगच्छ' की जो 'प्राकृत पट्टावली' बताई जाती है, वह भी वास्तव में भट्टारक-कालीन कृत्रिम पट्टावली है, मौलिक नहीं। यही कारण है कि कुन्दकुन्द के पूर्ववर्ती और उत्तरवर्ती श्रमणों की परम्परा क्रमिक शृंखला की कड़ियों की तरह नहीं मिलती। हम पहले ही दो शिलालेखों और हरिवंशपुराण के आधार से कुन्दकुन्दाचार्य की परम्परा का विवरण दे आये हैं जो व्यवस्थित नहीं है। उक्त लेखों और पुराण के अतिरिक्त 'तिलोयपण्णत्ति', षट्खण्डागम के वेदना खण्ड की 'धवला टीका' 'कषायपाहुड़' की 'जयधवला टीका' जिनसेन के 'आदि पुरुण' और इन्द्रनन्दी के 'श्रुतावतार' में भी दिगम्बर जैन सम्प्रदाय की पट्टावलियाँ दी गई हैं, परन्तु वे सभी अन्तिम आचारांगधारी 'लौहाचार्य' तक जाकर समाप्त हो जाती हैं। 'तिलोय-पण्णत्ति' विक्रम की 13वीं शती का एक संगृहीत संदर्भ है, यह बात पहले ही कह आये हैं। 'श्रुतावतार कथा' भी विक्रम की 13वीं शती से पहले की प्रतीत नहीं होती, क्योंकि इसमें 'पुस्तक के लिए साधु को थोड़ा द्रव्य संग्रह करने

की छूट दी है'। साधुओं की यह स्थिति 13 वीं शती के पहले नहीं थी। अब रही धवलादि तीन ग्रंथों की बात, इसमें धवला की समाप्ति भट्टारक वीरसेन ने शक सं. 702 में की थी यह माना जा रहा है। 'जयधवला' भी उनके शिष्य जिनसेन ने पूर्ण की है और आदिपुराण जिनसेन का ही है। इस परिस्थिति में उक्त छः ग्रंथों की प्रशस्तियों में सब से प्राचीन 'धवला' की प्रशस्ति है, शेष ग्रंथकारों ने प्रायः इसी प्रशस्ति का अनुसरण किया है। इस दशा में केवली जम्बू के उपरान्त के भद्रबाहु को छोड़कर शेष श्रुतकेवलियों, एकादशपूर्वधरों, पांच एकादशांगधरों और चार एकांगधरों के नाम भट्टारक श्री वीरसेन स्वामी ने add किये हों तो आश्चर्य नहीं है, क्योंकि ऐसे कामों में आप सिद्धहस्त थे। चूर्णिकार को आप ही ने 'यतिवृषभ' के नाम से प्रसिद्ध किया है। दिगम्बर परम्परा में व्यवस्थित और अविच्छिन्न परम्परा-सूचक पट्टावली नहीं है। अतः अब दो-चार अपूर्ण पट्टावलियां देकर इस अधिकार को पूरा कर देंगे।

नन्दिसंघ, द्रमिलगण, अरुङ्गलान्वय की पट्टावलियाँ

महावीर स्वामी

गौतम गणधर

समन्तभद्र स्वामी (वनवासी गच्छ ?)

एकसन्धि सुमति भट्टारक

अकलंकदेव वादीभसिंह

वक्रग्रीवाचार्य

श्रीनन्द्याचार्य

सिंहनन्द्याचार्य

श्रीपाल भट्टारक

कनकसेन वादिराज देव

श्री विजयशान्तिदेव

पुष्पसेन सिद्धान्तदेव

वादिराज

शान्तिषेण देव

कुमारसेन सिद्धान्तिक

मल्लिषेण मलधारी (मलधारी गच्छ ?)

श्रीपाल त्रैविद्यदेव (शक सं. 1047 में विष्णुवर्द्धन नरेश ने शल्य ग्राम का दान दिया।)

देशीयगण के आचार्यों की परम्परा

त्रैकाल्य योगीश

देवेन्द्रमुनि (सिद्धान्त भट्टार)

चन्द्रायणाद भट्टार

गुणचन्द्र

अभयणन्दि

शीलभद्र भट्टार

जयणन्दि

गुणनन्दि

चन्द्रणन्दि

शक सं. 1050 के लेख नं. 54 में निर्दिष्ट आचार्यपरम्परा

वर्द्धमानजिन

गौतम गणधर

भद्रबाहु

चन्द्रगुप्त

कुन्दकुन्द

समन्तभद्र – वाद में धूर्जटि की जिह्वा को भी स्थगित करने वाले। (वनवासी गच्छ ?)

सिंहनन्दि

वक्रग्रीव – छः मास तक 'अथ' शब्द का अर्थ करने वाले।

वज्रनन्दि – (तव स्तोत्र के कर्त्ता)

पात्रकेसरिगुरु – (त्रिलक्षण सिद्धान्त के खण्डनकर्त्ता)

सुमतिदेव – (सुमति–सप्तक के कर्त्ता)

कुमारसेन मुनि

चिन्तामणि – (चिन्तामणि कर्त्ता)

श्री वर्द्धदेव – (चूडामणइ काव्य के कर्त्ता दण्डी द्वारा स्तुत्य)

महेश्वर – (ब्रह्मराक्षसों द्वारा पूजित)

अकलंक – (बौद्धों के विजेता साहसतुंग नरेश के सन्मुख हिमशीतल नरेश की सभा में)

पुष्पसेन – (अकलंक के सधर्मा)

विमलचंद्र मुनि – इन्होंने शैव पाशुषतादि वादियों के लिए 'शत्रुभयंकर' नाम से भवन द्वारपर नोटिस लगा दिया था।

इन्द्रनन्दि

परवादिनल्ल – (कृष्णराज के समक्ष)

आर्य्यदेव

चन्द्रकीर्ति – (श्रुतबिन्दु के कर्त्ता)

कर्म प्रकृति – भट्टारक

श्रीपालदेव वादिराज कृत पार्श्वनाथ चरित (शक 947 से विदित होता

मतिसागर हे कि वादिराज के गुरु मतिसागर थे और मतिसागर के गुरु श्रीपाल।

हेमसेन विद्याधनञ्जय महामुनि

दयापाल मुनि – (रूपसिद्धि के कर्त्ता मतिसागर के शिष्य वादिराज

(दयापाल के सब्रह्मचारी चालुक्य चक्रेश्वर जयसिंह के कटक में कीर्ति प्राप्त की।)

श्रीविजय – (वादिराज द्वारा स्तुत्य हेमसेन गुरु के समान)

कमलभद्रमुनि

दयापाल पण्डित महासूरि

शान्तिदेव – (विनयादित्य होयसल नगरेश द्वारा पूज्य) चतुर्म्मखदेव (पाण्ड्य नरेश द्वारा स्वामी की उपाधि और आहवमल्ल नरेश द्वारा चतुर्म्मुखदेव की उपाधि प्राप्त थी)

गुणसेन – (मुल्लूर के)

अजितसेन– वादीभसिंह

शान्तिनाथ कविताकान्त पद्मनाभ वादिकोनाहल

कुमारसेन

मल्लिषेण मलधारि – (अजितसेन पण्डित देव के शिष्य, स्वर्गवास शक सं. 1050)

मूलसंघ के देशीय गण की पट्टावली :

कुन्दकुन्दाचार्य (पद्मनन्दि)
उमास्वाति (गृध्द्रपिच्छ)
बलाकपिच्छ
गुणनन्दि
देवेन्द्र सैद्धान्तिक
चतुर्मुखदेव (वृषभनन्दी)
माघनन्दि
मेघचन्द्र

मूल संघ के नन्दिगण की पट्टावली :

कुन्दकुन्दाचार्य
उमास्वाति (गृध्द्रपिच्छ)
बलाकपिच्छ
गुणनन्दि
देवेन्द्र सैद्धान्तिक
कलधौतनन्दि मुनि
महेन्द्रकीर्ति
वीरनन्दि

गोल्लाचार्य
त्रैकाल्य योगी
अभयनन्दि
सकलचन्द्र
मेघचन्द्र
वीसनन्दि
अनन्तकीर्ति
मल. रामचंद्र
शुभचन्द्र
पद्मनन्दि

उपसंहार :

दिगम्बर परम्परा की पट्टावलियों से हमको सन्तोष नहीं हुआ। एक भी सम्पूर्ण पट्टावली मिल गई होती तो हम इस प्रकरण को सफल हुआ मानते, अस्तु।

दिगम्बर सम्प्रदाय के सम्बन्ध में लिखते हुए, हमको अनेक स्थानों पर खण्डनात्मक शैली का आश्रय लेना पड़ा है, इसका कारण दिगम्बर विद्वानों द्वारा श्वेताम्बर-परम्परा-विरुद्ध किये गये आक्षेपों के प्रत्याघात मात्र हैं। दिगम्बर समाज में आज सैकड़ों पण्डित हैं और वे साहित्य सेवा में लगे हुए हैं, परन्तु इस पण्डितसमाज में शायद ही दो-चार विद्वान् ऐसे होंगे, जो सत्य बात को सत्य और असत्य को असत्य मानते हों। कुछ पण्डित तो एसे हैं, जो श्वेताम्बर जैन परम्परा के मन्तव्यों का खण्डन करके आत्मसंतोष मानते हैं। पण्डित नाथूरामजी प्रेमी, जुगलकिशोरजी मुख्तार, डॉ. हीरालालजी जैन और ए. एन. उपाध्याय आदि कतिपय स्थितप्रज्ञ विद्वान् भी हैं जो सत्य वस्तु को स्वीकार कर लेते हैं, शेष पण्डितमण्डली के विद्वानों में ऐसी उदारता दृष्टिगोचर नहीं होती। इनमें से कतिपय तो ऐसे भी ज्ञात हुए हैं, जो अपनी अशक्ति को न जानते हुए, धुरन्धर श्वेताम्बर जैनाचार्यों पर आक्षेप करते भी विचार नहीं करते। कुछ समय पहले की बात है, एक पण्डितजी का 'ज्ञानार्णव' ग्रन्थ पर लिखा हुआ वक्तव्य अपने 'योगशास्त्र' में 'ज्ञानार्णव' के कई श्लोक ज्यों के त्यों उद्धृत किये हैं', उस समय हमारे पास मुद्रित 'ज्ञानार्णव' नहीं था। ग्रंथसंग्रह में से हस्तलिखित 'ज्ञानार्णव' को मंगवाकर पढ़ा तो हमारे आश्चर्य का पार नहीं रहा। पण्डितजी ने जो कुछ लिखा था वह असत्य ही

नहीं बिल्कुल विपरीत था।

'ज्ञानार्णव' के कर्त्ता भट्टारक शुभचन्द्राचार्य ने 'हेमचन्द्रसूरि के योगशास्त्र' के कई श्लोक अपने ग्रंथ में ज्यों के त्यों ले लिए देखे गए।

आचार्य हेमचन्द्र का समय विक्रम की बारहवीं और तेरहवीं शती का मध्यभाग था, तब भट्टारक शुभचन्द्र सोलहवीं-सत्रहवीं शती के मध्यवर्ती ग्रंथकार थे। कृति का मिलान करने से ही ज्ञात होता था कि यह श्लोक भट्टारकजी के हैं और अमुक श्लोक पूर्वाचार्य कृत । भट्टारकजी की कृति बिल्कुल साधारण कोटि की है, तब हेमचन्द्र आदि विद्वानों की कृति ओजस्वी होने से छिपी नहीं रहती। पण्डितजी की उक्त विचारणा से मुझे बड़ी ग्लानि हुई, क्योंकि ऐसे लेखकों से ही सम्प्रदायों के बीच कटुता बढ़ती और बनी रहती है।

मैं आशा करता हूँ कि मेरे इस लेख के अन्तर्गत किसी कथन से किसी को दुःख नहीं लाना चाहिए, क्योंकि मेरा अभिप्राय अपने सम्प्रदाय की सत्यता प्रतिपादन करने का है, न कि दिगम्बर सम्प्रदाय के खण्डन का।

भट्टारक जिनसेन सूरि का शक-संवत् कलचूरी संवत् है-

भट्टारक वीरसेन सूरि ने हरिवंश-पुराणकार आचार्य जिनसेनसूरि का जो कि पुन्नाट वृक्षगण के आचार्य थे, अपने ग्रंथ में स्मरण किया है। जिनसेन ने शक 705 में हरिवंश-पुराण समाप्त किया है। उसमें वर्धमान नगर के राजा धरणीवराह का उल्लेख किया है। धरणीवराह चापवंशी राजा था और उसका सत्तासमय विक्रम सं. 971 (शक 836) था। हरिवंश का शक 705 विक्रम सं. 840 होता है जो धरणीवराह के समय के साथ संगत नहीं होता। इस परिस्थिति में जिनसेन के शक को शालिवाहन शक के अर्थ में न लेकर केवल संवत् के अर्थ में लेना चाहिए और इस संवत् को विक्रम, वलभी वा गुप्त संवत् न मान कर 'कलचूरी' संवत् मानना चाहिए। पुन्नाटगणीय जिनसेन उसी प्रदेश से आये हुए थे, जहाँ 'कलचूरी संवत्' चलता था। इसलिए जिनसेन की कलचूरी संवत् की पसंदगी स्वाभाविक थी। कलचूरी संवत् ईसा से 249 और विक्रम से 306 वर्षों के बाद प्रचलित हुआ था। इस प्रकार जिनसेन के हरिवंशपुराण को समाप्ति के 705 संवत् में कलचूरी के 306 वर्ष मिलाने पर 705+306=1011 विक्रम वर्ष बनेंगे, इससे धरणीवराह के और जिनसेन के समय की संगति भी हो जाएगी।

इसी प्रकार धवला की समाप्ति का समय शक संवत् 703 माना जाता है। इसमें कलचूरी के 306 वर्ष मिलाकर 703+306=1009 बना लिये जायें तो

वीरसेन का जिनसेन से परवर्तित्व सिद्ध हो सकता है। धनंजय, प्रभाचन्द्र और जिनसेन के नामोल्लेख भी संगत हो जाते हैं, मात्र वीरसेन स्वामी को विक्रम की ग्यारहवीं शती के ग्रंथकार मानने पड़ेंगे।

दिगम्बर ग्रंथकारों में से अनेक लेखकों ने अपने ग्रंथों में समयनिर्देश में संवत् के अर्थ में 'शक विक्रम–नृप' आदि शब्द प्रयुक्त किये हैं, उदाहरणस्वरूप भट्टारक श्री देवसेनसूरि ने 'दर्शनसार' में श्वेताम्बर मत आदि का उत्पत्ति को सूचना 'विक्रम नृप' शब्द से की है। पहले दिगम्बर विद्वान् इस समय–निर्देश को 'विक्रम संवत्' मानते थे, पर वर्तमान में डॉ. ज्योतिप्रसाद आदि ने इसे शक संवत् मान कर भट्टारक देवसेन का समय विक्रम संवत् 1025 का निश्चित किया है, इसी प्रकार सर्वत्र विशाल दृष्टि रखकर विद्वानों को वास्तविकता समझ कर मतभेदों का समन्वय करना चाहिए।

दिगम्बर जैन साहित्य : एक अध्ययन

दिगम्बर परम्परा, श्वेताम्बर संघ तथा यापनीय संघ से सर्वथा पृथक् हो गई थी और उनके आगमों तक का त्याग कर दिया था। तब उसे अपने साहित्य की चिन्ता उत्पन्न हुई। पार्थक्य के समय तक श्वेताम्बर-मान्य आगमों की दो वाचनाएँ हो चुकी थीं, इसलिए श्वेताम्बर मान्य आगमों का मिलना दुष्कर नहीं था। दिगम्बर मुनियों ने अपने धार्मिक दानों में 'पुस्तकदान' को महत्त्व दिया और भक्त गृहस्थों ने कहीं से भी हस्त-लिखित पुस्तक प्राप्त कर अथवा उसकी प्रति लिखवाकर अपने पूजनीय मुनियों को दान देने की प्रथा प्रचलित की। परिणामस्वरूप उन सूत्र पुस्तकों का आधार लेकर विद्वान् साधुओं ने सिद्धान्त-विषयक ग्रंथों का सूत्रों में अथवा गाथाओं में निर्माण किया। इस प्रकार के ग्रंथों में 'षट्खण्डागम; भगवती आराधना, मूलाचार' आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। 'षट्-खण्डागम' का प्रथम खण्ड भूतबलिकी और शेष पांच खण्ड पुष्पदन्त की कृति मानी जाती है। 'मूलाचार' नामक ग्रंथ आचार्य 'वट्टकेर' अथवा तो 'वट्टकेरल' की कृति मानी जाती है।

उपर्युक्त तीनों ग्रंथ स्त्रीमुक्ति को मानने वाले हैं। पिछले दो ग्रंथ साधुओं के लिए आपवादिक उपधिका भी प्रतिपादन करते हैं और 'षट्-खण्डागम' सूत्र में भी कुछ ऐसे विषय हैं जो इन ग्रंथों का अर्वाचीनत्त्व सूचित करते हैं। हमारी राय में इन तीनों प्राचीन ग्रंथों का निर्माण विक्रम की सप्तम शती के पूर्व का और अष्टम शती के बाद का नहीं है, ऐसा उनके निरूपित विषयों और परिभाषाओं से ज्ञात होता है। पिछले दो ग्रंथों में श्वेताम्बरमान्य आगमों और उनकी निर्युक्तियों की सैकड़ों गाथाएँ संग्रहीत हैं। यहाँ पर हम सर्वप्रथम 'षट्-खण्डागम', 'मूलाचार' पर ऊहापोह करके फिर अन्य पठित ग्रंथों का अवलोकन लिखेंगे।

षट्-खण्डागम -

षट्-खण्डागम-यह दिगम्बर जैन परम्परा का सर्वमान्य ग्रंथ है। इसके षट्-खण्डों के नाम क्रमशः - 1) जीवस्थान, 2) क्षुद्रबन्ध, 3) बन्धस्वामित्व, 4) वेदनाखण्ड, 5) वर्गणाखण्ड और 6) महाबन्ध हैं। दिगम्बर परम्परा में प्रथम खण्ड के कर्त्ता पुष्पदन्त और शेष पाँच खण्डों के कर्त्ता भूतबलि मुनि माने जाते हैं, जो अर्हद्बलि के शिष्य थे। टीकाकार भट्टारक वीरसेन ने भी पाँच खण्डों के कर्त्ता-भूतबलि को ही माना है। परन्तु आगम के सम्पादकों ने पिछले पाँच खण्डों के नामों

के साथ भी पुष्पदन्त का नाम जोड़ दिया है। इसका कारण पुष्पदन्त और भूतबलि दोनों ने यह आगम-ज्ञान धरसेन से प्राप्त किया था, ऐसी किंवदन्ती हो सकती है।

सटीक इस सिद्धान्त के पढ़ने से जो विचार हमारे मन में स्फुरित हुए हैं, उनका दिग्दर्शन निम्न प्रकार से है-

अर्हद्‌बलि के पुष्पदन्त और भूतबलि ये दो शिष्य थे, ऐसा दिगम्बर परम्परा के प्राचीन साहित्य से अथवा शिलालेखों से ज्ञात नहीं होता। दिगम्बरीय मान्यता के अनुसार यतिवृषभ की मानी जाने वाली 'तिलोय-पण्णत्ति' में ये नाम उपलब्ध होते हैं। दिगम्बर जैन विद्वान् 'यतिवृषभ' ऐतिहासिक व्यक्ति हुए ही नहीं हैं। 'यतिवृषभ' यह नाम धवला टीका के कर्त्ता भट्टारक वीरसेन का एक कल्पित नाम है और उनकी कही जाने वाली 'तिलोयपण्णत्ति' भी बारहवीं शती के आचार्य सिद्धान्तचक्रवर्ती 'माघन्दी' तथा उनके शिष्य सिद्धान्तचक्रवर्ती 'बालचन्द्र' की कृति है।

षट्-खण्डागम में प्रथम खण्ड से लेकर पंचम खण्ड के दो भागों तक सूत्र दिए गए हैं। तृतीय भाग के प्रारम्भ में थोड़े से सूत्र आये हैं, शेष भाग वीरसेन की टीका से भरे हुए हैं। इसके बाद 'महाबन्ध' में भी सूत्र जैसी कोई वस्तु नहीं है, केवल टीकाकार वीरसेनसूरि ने इस बन्ध के विषय को भङ्गोपभङ्ग प्रस्तारों द्वारा पल्लवित करके महाबन्ध को एक खण्ड के रूप में तैयार किया है। इसके साथ पुष्पदन्त तथा भूतबलि का कोई सम्बन्ध नहीं है। इस स्थिति में वीरसेन स्वयं महाबन्ध को 'भट्टारक भूतबलि की रचना' करते हैं, यह आश्चर्यजनक है।'

इन आगम-सूत्रों को ध्यानपूर्वक पढ़कर हमने यह निश्चय किया, कि ये सूत्र विक्रम की अष्टम शती से परवर्ती समय में बने हुए हैं। इनके भीतर अनेक ऐसे उल्लेख मिलते हैं जो इनका अर्वाचीनत्व सिद्ध करते हैं। स्थविर धनसेन के सत्ता समय और खण्डों के रचनाकाल के बीच कम से कम 500 वर्षों का अन्तर बताते हैं। इस दशा में 'आचार्य धनसेन ने पुष्पदन्त ओर भूतबलि को गिरि नगर में 'षट्-खण्डागम का ज्ञान दिया।' यह मान्यता किस प्रकार सत्य हो सकती है, यह एक गम्भीर और विचारणीय प्रश्न उपस्थित होता है।

हमारी राय में षट्-खण्डगम के टीकाकार आचार्य वीरसेन स्वामी स्वयं रहस्यमय पुरुष प्रतीत होते हैं। इन्होंने अपनी टीकाओं में तथा इनकी अन्तिम प्रशस्तियों में अपने लिए जो विशेषण प्रयुक्त किये हैं, वे अवश्य विचारणीय हैं।

एक खण्ड की टीका में आप अपने प्रसिद्ध सिद्धान्तों का सूर्य, समस्त वैयाकरणों का सिरताज, गुणों की खान, तार्किकों के चक्रवर्ती, प्रखरवादियों में सिंह समान बतलाते हैं।' अन्तिम प्रशस्ति में भी आपने इन्हीं विशेषणों को प्राकृत भाषा में परिवर्तित करके प्रयुक्त किया है। इसके अतिरिक्त प्रशस्ति में आपने अपने को 'छन्दशास्त्र तथा ज्योतिष शास्त्र का वेत्ता भी बताया है।' इतना ही नहीं, इस महती टीका में आपने छोटे से छोटे अनुयोग द्वार तथा प्रकरण के प्रारम्भ में 'वण्णइस्सामो, कस्सामो'' आदि बहुवचनान्त क्रियाओं का प्रयोग करके अपने महत्त्व का परिचय दिया है। मालूम होता है, टीकाओं का पुनरुक्तियों द्वारा दुगुना तिगुना कलेवर बढ़ाने में भी उनका महत्त्वाकांक्षीपन ही काम कर गया है, अन्यथा धवला जयधवला टीकाओं में जो कुछ लिखा है, वह एक चतुर्थांश परिमाण वाले ग्रंथ में भी लिखा जा सकता था। इसका आपने कई स्थानों पर बचाव भी किया है कि हमने अतिमुग्ध-बुद्धि-शिष्यों के बोधार्थ यह पुनरुक्ति की है। हमारी राय में यह बचाव एक बहाना है। एक वस्तु को घुमा-घुमाकर लिखने से तो मुग्ध-बुद्धि मनुष्य उल्टे चक्कर में पडते हैं। खरी बात तो यह है कि भट्टारकजी को इन ग्रंथों का कलेवनर बढ़ाकर इस तरफ अपने अनुयायियों का मन आकृष्ट करना था और इस कार्य में आप पूर्णतया सफल भी हुए हैं।

टीका की प्रशस्ति में आपने अपने इस निर्माण का समय सूचित करने में भी जाने-अनजाने गोलमाल किया है।

धवला की प्रशस्ति :-

'सिद्धंत-छंद-जोइस-वायरण-पमाणसत्थणिबुणेण।
भट्टारएणा टीका, लिहिएसा वीरसेणेण।।5।।
अट्ठत्तीसम्हि सासियविक्कमरायम्हि एयाइ संरंभी।
पोसे सुतेरसीए, भावविलग्गे धवलपक्खे।।6।।
जगतुंगदेवरज्जे, रि(हि) यम्हि कुंभम्हि राहुणा कोणो।
सूरे तुलाए संते, गुरुम्हि कुलविल्लए होंते।।7।।
चावम्हि वर (धर) णिवुत्ते, सिंघे सुक्कम्मि मेंढि चंदम्मि।
कत्तियमासे एसा, टीका हु समापिआ धवाला।।8।।
वाद्दण रायणरिंदे, णरिंदचूणामणिम्हि भुंजंते।
सिद्धंतगंधमत्थिय-गुरुप्पसाएण विगत्ता सा।।9।।'

भट्टारकजी ने प्रशस्ति की 5 से 9 तक की 5 गाथाओं से यह धवला टीका कब लिखी यह बात सूचित की है। परन्तु निर्माण के समय के सूचक 'अट्ठत्तीसम्हि' इन दो शब्दों के अतिरिक्त कोई शब्द नहीं है। 'सासिय' अथवा 'सामियविक्कमरायम्हि' इन शब्दों से भी कोई स्पष्टार्थ नहीं होता। शासक अथवा स्वामी विक्रम राज्य के समय क्या हुआ? इसका कोई फलितार्थ नहीं मिलता। 'अट्ठत्तीसम्हि' से विक्रम का सम्बन्ध नहीं मिलता, क्योंकि दोनों सप्तम्यन्त हैं। इसके अतिरिक्त 'जगतुंगदेवरज्जे' और अन्त में 'वोद्दण रायणरिंदे, णरिंद चूणामणिम्हि भुंजंते' इस प्रकार दो राजाओं के सप्तम्यन्त नाम लिखे हैं। 'विक्रमराज, जगत्तुङ्गदेव और बौद्दणराजनरेन्द्र' इन तीन राजाओं का सम्मेलन करके भट्टारकजी क्या कहना चाहते हैं, इसका तात्पर्य समझ में नहीं आता। प्रशस्ति की गाथाओं में मास, पक्ष, तिथि, लग्न और लग्न कुंडली स्थित ग्रहों की राशियाँ बताई हैं। इससे इतना जाना जा सकता है कि यह प्रशस्ति विक्रम की दशवीं शती अथवा उसके बाद की हो सकती है पहले की नहीं।

आचार्य वीरसेन ने वेदना-खण्ड की टीका में दिगम्बर साधुओं के पाँचकुलों के नाम दिए हैं, वे ये हैं- 'पंचस्तूप, गुहावासी, शालमूल, असोकवाटक और खण्डेसर।' इसके साथ ही 'गण' तथा 'गच्छ' की व्याख्या देते हुए लिखा है- 'तिपुरिसओ गणो' 'तदुवरि गच्छों' अर्थात् तीन पुरुषों की परम्परा के समुदाय को 'गण' कहते हैं। उसके ऊपर होता है उसे 'गच्छ' कहते हैं। भट्टारकजी ने 'कुल, गण और गच्छ' की यह व्याख्या किस ग्रंथ के आधार से की है यह कहना कठिन है। धवला के अतिरिक्त अन्य किसी प्राचीन दिगम्बर जैन ग्रंथ में कुलों के इन नामों को हमने नहीं देखा, न 'त्रिपुरुषकगण' होता है-यह व्याख्या भी हमने कहीं पढ़ी। दिगम्बर परम्परा के प्राचीन ग्रंथों की प्रशस्तियों में हमने कहीं पढ़ी। दिगम्बर परम्परा के प्राचीन ग्रंथों की प्रशस्तियों में 'नन्दिगण, सेनगण, देवगण, सिंहगण, देशीयगणादि' गणों के नाम मिलते हैं। परन्तु 'त्रिपुरुषकगण' होता है ऐसा कहीं भी लेख नहीं मिलता। न 'गणों' के ऊपर 'गच्छ' होता है, यह बात देखने में आई। प्रयुक्त गण शब्द ही प्राचीनकाल से साधु-समुदाय के अर्थ में 'गच्छ' शब्द ग्यारहवीं तथा बारहवीं शती के ग्रंथों में तथा शिलालेखों में साधु-समुदाय के अर्थ में प्रयुक्त हुआ दृष्टिगोचर होता है। तब भट्टारक वीरसेन गणों के ऊपर गच्छ कहते हैं। इसका क्या वास्तविक अर्थ है, सौ विद्वान विचार करें। हमारी राय में तो दिगम्बर तथा श्वेताम्बर जैन परम्पराओं में सर्वोपरि संघ होता है और संघ के छोटे

विभाग 'गण' होते हैं। गणों के विभागों को 'गच्छ' कहते हैं। श्वेताम्बर परम्परा में छठी, सातवीं शताब्दी से 'गच्छ' शब्द साधु-समुदाय के अर्थ में प्रचलित हुआ है। तब दिगम्बर परम्परा में तो इसके बहुत पीछे ग्यारहवीं, बारहवीं शती से 'गणों' में से 'गच्छों' की उत्पत्ति हुई है। इस दशा में भट्टारकजी वीरसेन का उक्त कुलगण-गच्छों का निरुपण एक रहस्यपूर्ण समस्या बन जाती है।

आधुनिक दिगम्बर विद्वान भट्टारक वीरसेन स्वामी का सत्तासमय विक्रम की नवमी शती में रखते हैं। तब भट्टारकजी स्वयं धवला टीका में 'तिलोयपण्णत्ति, तिलोयसार' आदि ग्रंथों के नाम निर्देश करते हैं। 'तिलोयपण्णत्ति' बारहवीं शती के पूर्व का सन्दर्भ नहीं है और 'तिलोयसार' इससे भी अर्वाचीन ग्रन्थ है। इस स्थिति में 'धवला' में इन ग्रंथों का नाम निर्देश होना क्या रहस्य रखता है, यह प्रश्न विचारकों के लिये एक समस्या बन जाती है। इसके अतिरिक्त 'धनञ्जयनाममाला' एवं 'गोम्मटसार' की पचासों गाथाओं के उद्धरणों का धवला में मिलना भी कम रहस्यमय नहीं है। एक स्थान पर तो वीरसेन भट्टारकजी ने प्रसिद्ध दिगम्बर न्यायाचार्य भट्टारक 'प्रभाचन्द्र' का नाम निर्देश भी किया है। और 'सिद्धि-विनिश्चय टीका' का उद्धरण भी दिया है। इन सभी बीतों की समस्या दो प्रकार से ही हल हो सकती है, एक तो यह कि भट्टारक वीरसेन को ग्यारहवीं शती का माना जाय। दूसरा यह कि इनको टीकाओं में जिन 2 अर्वाचीन ग्रंथों के अवतरण तथा अर्वाचीन ग्रंथकारों के नाम आते हैं वे बाद में प्रक्षिप्त हुए माने जायें। इसके अतिरिक्त समन्वय का तीसरा कोई उपाय नहीं है। हमारी राय में आचार्य वीरसेन को नवमी शताब्दी का न मानकर ग्यारहवीं शती का मानने से ही सब बातों का समाधान हो सकता है।

धवला टीका की प्रशस्ति जिसकी चर्चा ऊपर कर आये हैं, वीरसेन के समय पर स्पष्ट प्रकाश नहीं डालती, न उसमें दिये हुए राजाओं के नामों से ही समय को सिद्धि होती है। यह प्रशस्ति स्वयं उलझी हुई है। इसके भरोसे पर ग्रंथकार को पूर्वकालीन ठहराना किसी प्रकार सिद्ध नहीं हो सकता। धवला के अन्तर्गत दूसरे भी अनेक शब्दप्रयोग ऐसे मिलते हैं कि जिनसे ग्रंथकार ग्यारहवीं शताब्दी के पूर्ववर्ती सिद्ध नहीं हो सकते।

षट्-खण्डागम के माने जाने वाले सूत्रों को वीरसेन ने 'सूत्र' तथा 'चूर्णि' इन दो नामों से निर्दिष्ट किया है। परन्तु हमारा राय में इनको 'चूर्णि' कहना ठीक नहीं

'जँचता, क्योंकि 'चूर्णि' एक प्रकार की टीका मानी गई है और टीका गद्य अथवा पद्यबद्ध ग्रंथों के ऊपर बनती है। षट्-खण्डागम के माने गये सूत्र किसी अंश में सूत्र नहीं कहे जा सकते हैं, तब कहीं-कहीं सूत्र चूर्णि का रूप भी धारण कर लेते हैं। यह मूल ग्रंथ का दुरंगा रूप स्वाभाविक नहीं पर कृत्रिम है। हमारी समझ के अनुसार वास्तव में यह चूर्णी होनी चाहिए, परन्तु बाद में किसी ने चूर्णी का अंग-भंग कर सूत्र बना दिए हैं। यह परिवर्तन किसने किया यह कहना तो कठिन है, परन्तु चौथे पाँचवें खण्डों में कहीं-कहीं सूत्रों के रूप में गाथाएँ दी गई हैं और उन पर चूर्णि न होकर वीरसेन की सीधी धवला टीका बनी है।

कषाय पाहुड़ की गाथाओं के कर्त्ता का नाम 'गुणधर' लिखा है और उसकी चूर्णि के कर्त्ता का नाम 'यतिवृषभ'। हमारी राय में ये दोनों नाम भट्टारकजी की कृति है। असत् को सत् बनाने में भट्टारक वीरसेन एक सिद्धहस्त कलाकार मालूम होते हैं। 'जयधवला' वाली चूर्णि के प्रारम्भ में दो मंगलाचरण की गाथाएँ दी हैं, उनमें 'यतिवृषभ' नाम आता है, जिसे 'यतिवृषभ' नामक आचार्य मानकर चूर्णि को उनके नाम पर चढ़ा दिया है। यही चूर्णि टीका के बिना छपी है। उसमें न मंगल गाथाएँ हैं, न 'यतिवृषभ' का उल्लेख है। इससे प्रमाणित होता है कि 'जयधवला वाली चूर्णि' में वीरसेन ने अपना परिचय मात्र दिया है।

अपनी टीका में स्थान-स्थान पर 'जईवसहायरिओ' उल्लेख कर भट्टारकजी ने यति वृषभाचार्य को मूर्तिमन्त बना दिया है। इसी प्रकार कषायपाहुड़ की गाथाओं में कहीं भी कर्ता का नाम निर्देश नहीं है, तथापि वीरसेन ने अपनी टीका में 'गुणहर भडारओ' इत्यादि स्थान-स्थान पर निर्देशों द्वारा 'गुणधर भट्टारक' को भी एक ऐतिहासिक व्यक्ति बना दिया है।

षट्-खण्डागम के चूर्णि सूत्र, कषाय पाहुड़ के चूर्णि सूत्र और इन दोनों पर की वीरसेन की टीकाओं की प्राकृत भाषा एक है। फरक इतना ही है कि टीकाओं में कहीं-कहीं संस्कृत पद अथवा वाक्य दिए गए हैं; तब चूर्णियों में यह बात नहीं है। प्राकृत भाषा न पूरी शौरसेनी है, न मागधी और न प्राकृत। इसमें शौरसेनी का एक ही लक्षण मजबूत पकड़े रखा है, कि 'त' को 'द' बनाना। मागधी का लक्षण एक ही पकड़ा है कि ती के 'त' को 'ड़' बनाना। बाकी प्राकृत प्रयोग भी अधिकांश अलाक्षणिक ही हैं, जैसे-'खुद्दाबन्ध, नामागोद, नीचागोद, रहस्स, संघडणा' इत्यादि सैकड़ों ऐसे अलाक्षणिक शब्द हैं जो प्राकृत व्याकरण से सिद्ध नहीं हो

सकते। इन अलाक्षणिक शब्द हैं जो प्राकृत व्याकरण से सिद्ध नहीं हो सकते। इन अलाक्षणिक शब्दों को लाक्षणिक बनाने की इच्छा 'प्राकृत शब्दानुशासनकार-श्री त्रिविक्रमदेव' को हुई थी और प्रारम्भ में उन्होंने लिखा भी था कि 'वीरसेन आदि प्रयुक्त शब्दों को सिद्ध करने की भी मेरी इच्छा है।' पर बाद में शब्दानुशासन की समाप्ति तक देखा तो वीरसेन अथवा उनके द्वारा प्रयोग में लाए गए प्राकृत शब्दों की सिद्धि कहीं भी दृष्टिगोचर नहीं हुई। मालूम होता है कि त्रिविक्रम देव को भट्टारकजी के अलाक्षणिक शब्दों को लाक्षणिक बनाने का कार्य असम्भव प्रतीत हुआ होगा। इसी से उन्होंने अपने व्याकरण में कही उल्लेख तक नहीं किया।

भट्टारकजी अपनी भाषा की अलाक्षणिकता जानते थे, इसी से इन्होंने एक स्थान पर प्राकृतव्याकरण के नाम से अर्धपद्य के रूप में एक बॉम फेंका कि 'प्राकृत में ए, ऐ आदि सन्व्यक्षरों के स्थान में आ, ई आदि अक्षर परस्पर एक दूसरे के स्थान में हो जाते हैं।'

आपकी होशियारी का पार ही नहीं आता, स्थान-स्थान पर 'केवि आयरिया, आयरियोवदेसेण, महावाचक-खमासमणा' आदि साक्षी के रूप में तुक्का धर देते हैं, पर नाम न देने की तो प्रतिज्ञा ही कर रखी है। हम तो इसका अर्थ यही समझते हैं कि भट्टारकजी के पास एकाध गणित का कोई अच्छा ग्रंथ होगा और एक दो भंग-प्रस्तारों के कर्म-सम्बन्धी ग्रंथ, उनके आधारों से यह टीका ग्रंथ-जिसे टीका न कहकर 'महाभाष्य' कहना चाहिये, बना हुआ है। कुछ भी हो, परन्तु दिगम्बर जैन परम्परा के लिये तो वीरसेन एक वरददेव हैं, जिन्होंने 'कर्म-सिद्धान्त-विषयक-धवला तथा जयधवला' दो टीकाएं बनाकर दिगम्बर जैन समाज को उन्नतमस्तक कर दिया है।

मूलाचार - सटीक :-

'मूलाचार' ग्रंथ प्राकृत गाथाबद्ध 12 अधिकारों में पूरा किया गया है। बारह अधिकारों के नाम तथा गाथासंख्या निम्न प्रकार से हैं-

1) मूलगुणाधिकार
2) बृहत्प्रत्याख्यान-संस्तर-स्तवाधिकार
3) संक्षेप-प्रत्याख्यानाधिकार
4) सामाचाराधिकार
5) पंचाचाराधिकार

6) पिण्डशुद्धि-अधिकार
7) षटावश्यकाधिकार
8) द्वादशानुप्रेक्षाधिकार
9) अनगार-भावनाधिकार
10) समय-साराधिकार
11) शील-गुणाधिकार
12) पर्याप्त्यधिकार

ऊपर लिखे अनुसार बारह अधिकारों में क्रमशः 36-71-14-77-222-83-193-76-125-124-26-206 गाथा संख्या है, जो सम्मिलित संख्या 1230 होती है। इसके कर्त्ता 'वट्टकेर' अथवा 'वट्टकेरल' बताये जाते हैं। इस ग्रंथ पर टीकाकार सिद्धान्तचक्रवर्ती आचार्य वसुनन्दी हैं। इनका सत्तासमय ज्ञात नहीं है, फिर भी इनके कतिपय उल्लेखों से ये धारणा से भी अधिक अर्वाचीन प्रतीत होते हैं। पापश्रुत का निरुपण करते हुए इन्होंने 'वात्स्यायन' शास्त्र के साथ एकोकशास्त्र' का भी नाम निर्देश किया है जो इनकी अर्वाचीनता प्रमाणित करता है। वसुनन्दि की 'सिद्धान्तचक्रवर्ती' इस उपाधि के अनुसार ये 'कर्मग्रंथ' तथा 'तिलोयपण्णत्ति' के विषय के अच्छे जानकार मालूम होते हैं। अधिकार 11-12 की टीका में इन्होंने जो विद्वता दिखाई है- इससे इनके सिद्धान्त-चक्रवर्तित्व का आभास मिलता है, परन्तु शेष दश अधिकारों की संख्या में इन्होंने कमजोरी ही नहीं अनभिज्ञता तक दिखाई है। इसके दो कारण ज्ञात होते हैं- एक तो यह कि इस ग्रंथ पर वसुनन्दि के पूर्व की बनी हुई कोई टीका नहीं थी और दूसरा यह कि यह ग्रंथ खासकर श्वेताम्बर परम्परा के प्राचीन ग्रंथ 'आवश्यक-निर्युक्ति, दश-वैकालिक सूत्र' आदि के आधार पर संग्रहीत किया गया है और वसुनन्दि के पास न उक्त श्वेताम्बर ग्रंथ थे, न श्वेताम्बर परम्परा की आचार-विषयक परिभाषाओं का ज्ञान। इसलिये कई स्थानों पर बिना समझे ही मूल ग्रंथ की बातों को गुड़गोबर कर दिया है। सबसे अधिक इन्होंने ''षडावश्यकाधिकार' में अपनी अनभिज्ञता प्रदर्शित की है। अन्य स्थानों पर भी जहाँ कहीं श्वेताम्बरीय सिद्धान्तों की गाथाओं की व्याख्या की है, वहाँ कुछ-न-कुछ भूल की ही है। उदाहरण के लिए-पंचाचाराधिकार की 80वीं गाथा श्वेताम्बरीय-आवश्यक-निर्युक्ति की है। इसमें गणधर, प्रत्येकबुद्ध, श्रुतकेवली और अभिन्न दशपूर्वधर स्थविर की रचना को 'सूत्र' के नाम से व्यवहार करने का कहा है। इसके चतुर्थ चरण में 'अभिण्णदसपुव्विकधिदं च' इसकी

व्याख्या करते हुए ‘ अभिन्न दस पूर्व’ का अर्थ करते हुए आप कहते हैं– ‘अभिन्नानि रागादिभिरपरिणतानि दश पूर्वाणि’ अर्थात्–‘रागादि से अपरिणत दश पूर्व’ ऐसा अर्थ लगाया है। परन्तु वास्तव में इसका अर्थ होता है–‘सम्पूर्ण दशपूर्व’ और ऐसे सम्पूर्ण दश पूर्वों के जानने वाले श्रुतधर की कृति को ‘सूत्र’ माना गया है। यह तो एक मात्र उदाहरण बताया है, वास्तव में इस प्रकार की साधारण भूलें अगणित हैं।

आचार्य वसुनन्दी ने इस टीका में अपना विशेष परिचय नहीं दिया। अन्त में एक पद्य में इस मूलाचार की वृत्ति का ‘वसुनन्दी वृत्ति’ के नाम से परिचय कराया है। यह पद्य यदि वसुनन्दी का खुद का भी हो तब भी इससे इनका तथा इनके समय का कोई परिचय नहीं मिलता।

मूलाचार के कर्त्ता का नाम ‘वट्टकेराचार्य, वट्टेरकाचार्य अथवा वट्टकेरलाचार्य?’ –

प्रस्तुत मुद्रित सटीक ग्रंथ के सम्पादक ने एक दो स्थान पर ‘वट्टेरकाचार्य’, तब अन्य स्थानों में ‘वट्टकेराचार्य’ लिखा है। वसुनन्दी ने टीका के उपक्रम में इनका नाम ‘वट्टकेरलाचार्य’ लिखा है। इन भिन्न –भिन्न नामोल्लेखों का होना हमारी राय में इस ग्रंथ के कर्त्ता के नाम का बनावटीपन साबित करता है। इस बात के समर्थन में अन्य भी कई कारण हैं। प्रथम दो दिगंबरीय शिलालेखों में यह नाम कहीं भी दृष्टिगोचर नहीं होता। ग्रंथ–प्रशस्तियों में भी इनका नाम कहीं लिखा नहीं मिलता। भट्टारकीय प्रशस्तियों में भी किसी भी लेखक ने नहीं लिखा, ऐसा हमारा ध्यान है। आचार्य श्रुतसागर 16वीं शताब्दी के दिगम्बर विद्वान थे। आचार्य वसुनन्दी भी श्रुतसागर से दो तीन शताब्दियों से अधिक पूर्ववर्ती नहीं हैं। मूलाचार के भिन्न–भिन्न अधिकारों में आने वाले अनेक ऐसे शब्द प्रयोग हैं जो विक्रम की 12 वीं शताब्दी के किसी ग्रंथ में प्रयुक्त हुए दृष्टिगोचर नहीं होते हैं। मूलाचार ग्रंथ के अधिकारों की योजना भी इस बेढबी से की गई है कि यह ग्रंथ एक मौलिक ग्रंथ नहीं पर संग्रहग्रंथ प्रतीत होता है। ग्रंथ की प्राकृत भाषा भी दिगम्बरीय शौरसेनी है, जो 12वीं शताब्दी से प्राचीन नहीं। छन्दोभंग जैसी भूलों को ध्यान में न भी लें तो भी व्याकरण सम्बन्धी ऐसी अनेक अशुद्धियाँ हैं जो दिगम्बरीय प्राचीन साहित्य में नहीं देखी जाती। परन्तु बारहवीं तेरहवीं शती और इसके बाद में ग्रंथों में इनकी भरमार है। संग्रहकार ने शताधिक गाथाएं श्वेताम्बर ग्रंथों से लेकर इसमें रख दी हैं।

केवल 'त' 'य' के स्थान पर दिगम्बरीय शौरसेनी का 'द' बना दिया है। नमूने के रूप में कुछ गाथाओं के अङ्क हम नीचे उद्घृत करते हैं –

मूला.	पंचाचाराधिकार	गाथा 80	श्वेताम्बर आवश्यक नि.	पृष्ठ
,,	सामाचाराधिकार	124	आ.नि. 667	258
,,	,,	132	684	263
,,	,,	133	688	284
,,	पंचाचाराधिकार	165	1418	764
,,	षडावश्काधिकार	3	918	387
,,	,,	4	922	406
,,	,,	6	953	438
,,	,,	9	984	448
,,	,,	10	997	449
,,	,,	11	1002	449
,,	,,	16	89	62
,,	,,	24	797	329
,,	,,	25	798	329
,,	,,	33	799	329
,,	,,	36	1246	563
,,	,,	43	1058	496
,,	,,	55	1059	496
,,	,,	56	1060	497
,,	,,	58	1062	497
,,	,,	59	1061	497
,,	,,	62	1066	498
,,	,,	63	1069	498
,,	,,	64	1076	500
,,	,,	65	921	496
,,	,,	66	1077	500
,,	,,	67	1079	500
,,	,,	68	1093	508

,,	,,	69	1094	508
,,	,,	70	1095	508
,,	,,	71	1096	509
,,	,,	72	1097	509
,,	,,	78	आवश्य सूत्र	511
,,	,,	79	आ.नि.1102	511
,,	,,	80	1103	511
,,	,,	93	1197	541
,,	,,	94	1195	540
,,	,,	95	1105	516
,,	,,	96	1106	519
,,	,,	98	1107	516
,,	,,	100	1108	541
,,	,,	101	1199	541
,,	,,	102		541
,,	,,	103	1201	542
,,	,,	104	1202	542
,,	,,	106	1207	543
,,	,,	107	1208	544
,,	,,	108	1209	544
,,	,,	109	1210	544
,,	,,	110	1211	544
,,	,,	111	1212	544
,,	,,	113	1225	549
,,	,,	115	1234	552
,,	,,	116	1248	663
,,	,,	117	1231	551
,,	,,	118	1232	551
,,	,,	120	1250	564
,,	,,	129	1244	563

,,	,,	130	1245	563
,,	,,	136	1555	803
,,	,,	139	1563	840
,,	,,	140	1564	840
,,	,,	141	1565	840
,,	,,	151	1447	770
,,	,,	155	1490	780
,,	,,	159	1458	772
,,	,,	160	1530	795
,,	,,	161	1531	795
,,	,,	162	1538	795
,,	,,	169	1551	801
,,	,,	171	1546	790
,,	,,	172	1547	798
,,	,,	174	1541	797
,,	,,	175	235	797
,,	,,	177	1479	776
,,	,,	178	1489	776
,,	,,	179	1490	776
,,	,,	180	1492	776
,,	,,	186	722	272
,,	,,	187	122	267
,,	,,	190	121	166
,,	समयसाराधिकार	8		
,,	,,	121	दशवैकालिक 7	
,,	,,	122	दश. 8	
,,	,,	123	दश.	
,,	शीलगुणाधिकार	16	छेद सूत्र	
,,	पर्याप्त्यधिकार	107	आ.सू. 49	39

उपर्युक्त गाथाओं में वर्णभेद तो सर्वत्र किया ही है, परन्तु कहीं कहीं दिगम्बर

परम्परा को मान्यता के अनुकूल बनाने के लिए शाब्दिक परिवर्तन भी किया है। इनके अतिरिक्त अनेक गाथाओं के चरण तथा गाथार्ध तो सैकड़ो की संख्या में दृष्टिगोचर होते हैं। पंचाचाराधिकारादि में भगवती आराधना की कतिपय गाथाएँ भी ज्यों की त्यों उपलब्ध होती है। भगवती आराधना यापनीय संघ के विद्वान मुनि शिवार्य की कृति है, इसी तरह दिगम्बर ग्रंथों की गाथाओं का भी अनुसरण किया गया है। इन सब बातों का विचार कर हमने यह मत स्थिर किया है कि मूलाचार न कुन्द-कुन्दाचार्य की कृति है, न वट्टकेर, वट्टेरक अथवा वट्टकेरल नामक कोई ऐतिहासिक व्यक्ति हुए हैं। मूलाचार यह संग्रह ग्रंथ है। इसके संग्राहक यापनीय अथवा अज्ञातनामा कोई दिगम्बर विद्वान् होने चाहिए।

पंच-संग्रह ग्रंथ :

1. आवश्यक सूचन :

प्रथम पंच संग्रह जो भाषान्तर के साथ मुद्रित है, करीब 2500 श्लोक परिमाणा है। इसके पांचों प्रकरणों के नाम क्रमशः नीचे लिखे अनुसार है-

1. जीव-समास-गाथा 206
2. प्रकृति-समुत्कीर्तन-गाथा 12 शेष गद्यभाग
3. कर्म-स्तव-गा. 77
4. शतक - गा. कुल 522, मूल गाथा 105
5. सप्ततिका-गाथा कुल 507, मूल गाथा 72

   यह ग्रंथ भाषान्तर के साथ 539 पेजों में पूरा हुआ है।

2. प्राकृत वृत्ति सहित पंच-संग्रह :

श्रुतवृक्ष का निरुपण उपोद्घात में, गाथा 43 जिसमें अंग उपांग पूर्वश्रुत के विवरण के साथ सब की पदसंख्या दी है।

1. प्रकृतिसमुत्कीर्तन - गाथा 16
2. कर्म-स्तव-गाथा 88, 9 गाथाएँ इसी विषय की अलग अंक वाली है।
3. जीवसमास-गा. 176, यह ग्रंथ 540 से 662 तक के 122 पृष्ठों में पूरा हुआ है।

4. शतक–गा. 139, अन्त में मङ्गलाचरण की दी गाथाएं।

5. सूचलिका सप्तति – गाथा 99,

इस प्राकृत टीका वाले पंच–संग्रह के कर्त्ता पद्मनन्दी नामक आचार्य हैं और टीका भी इनकी स्वोपज्ञ प्रतीत होती है।

3. संस्कृत पद्यबद्ध पंच–संग्रह :

प्राग्वाट वणिक् जाति के विद्वान श्रीपालसुत डड्ढ की कृति है। इसके पांच प्रकरणों के नाम इस प्रकार हैं –

1. जीव–समास–श्लोक 257
2. प्रकृति–समुकीर्तन–श्लोक. 44
3. कर्म सत्व–श्लोक 90
4. शतक – श्लो. 339
5. सत्तरि–श्लोक 428
6. सप्ततिका चूलिका 85

4. पंच–संग्रह संस्कृत आचार्य अमितगति कृत :

1. बंधक–श्लोक 353
2. बध्यमान–श्लोक प्रकृति–स्तव में 48
3. बंध–स्वामित्व – श्लोक कर्म–बन्ध–स्तव 106
4. बंधकारण–375 श्लोकों के बाद शतक समाप्त ऐसा उल्लेख किया है,
5. बंध भेद- परन्तु अगले प्रकरण का गाथांक भिन्न नहीं दिया है किन्तु 779 श्लोकों के बाद '' इति मोहपाकस्थानप्ररूपणा समाप्ता' यह लिखकर आगे गुणेषु मोहसत्त्वस्थानानि आह–यह लिखकर नये अङ्क के साथ प्रकरण शुद्ध किया है और बीच में भिन्न–भिन्न शीर्षक देकर कुल 79 श्लोक पूरे करके 'सप्ततिकाप्रकरणं समाप्तम्' लिखा है।

शतक, सप्ततिका इन दोनों प्रकरणों की समाप्ति के उल्लेखों में इनके नाम आये हैं, मूल श्लोकों में नहीं। परन्तु इन दो प्रकरणों में दृष्टिवाद का नामनिर्देश श्लोकों में

हुआ है।

इसके बाद सामान्य विशेष रूप से बन्ध-स्वामित्व का निरूपण है, जो भिन्न-भिन्न शीर्षकों के नीचे 90 श्लोकों में पूरा किया है। बीच में गद्य भाग में भी विवरण किया है। ग्रंथकार की प्रशस्ति से जाना जाता है कि 1073 विक्रम में यह ग्रंथ पूरा किया है।

अकलंक - ग्रंथत्रय :

लघीयस्त्रय ग्रंथ में प्रथम प्रमाण-प्रवेश, नय-प्रवेश तथा प्रवचन प्रवेश आदि प्रकरण हैं।

नय-प्रवेश की 33वीं कारिका के उपक्रम में पुरुषाद्वैतवाद का उल्लेख करके पुरुष को निस्तरंग तत्त्व और जीवादि पदार्थों को उपप्लव कहा गया है। वास्तव में यह हकीकत वेदान्तवाद की है। आगे कारिका 38वीं स्पष्ट रूप से ब्रह्मवाद का निर्देश मिलता है-

संग्रहः सर्वभेदैक्य-मभिप्रैति सदात्मना।

ब्रह्मवादस्तदाभासः स्वार्थभेदनिराकृतेः ।।39।। इत्यादि।

आगे प्रवनच प्रवेश की 69वीं कारिका में भी -

'सदभेदात्समस्तैक्य-संग्रहात् संग्रहो नयः।

दुर्नयो ब्रह्मवादः स्यात्, तत्स्वरूपानवाप्तितः।।39।।'

ब्रह्मवाद की दुर्नय कहा गया है।

अकलंक देव के उपर्युक्त निरुपणों से यह तो स्पष्ट हो जाता है कि इनका लधीयस्त्रय ग्रंथ शंकराचार्य का ब्रह्मवाद प्रचलित होने के बाद निर्मित हुआ है। अन्य विद्वानों का यह मन्तव्य है कि लघीयस्त्रय अकलंक देव का प्रारम्भिक ग्रंथ है। पर हम इस मन्तव्य से सहमत नहीं है। हमारी राय में यह लघीयस्त्रय ग्रंथ अकलंकदेव ने पिछली अवस्था में इस विचार से रचा है कि स्याद्वाद के अभ्यासी विद्यार्थी इन लघु ग्रंथों में प्रवेश कर स्याद्वाद के आकर ग्रंथों में सुगमता से प्रवेश कर सकें।

प्रमाण संग्रह -

प्रमाण संग्रह भी इसी कोटि का ग्रंथ है। इसमें ग्रंथकर्त्ता ने सिद्धसेन, देवनन्दि

और समन्तभद्र के नामों का सूचन किया है। इसके अतिरिक्त इसमें नयचक्र ग्रंथ का भी उल्लेख किया है।

श्री तत्त्वार्थ-श्लोकवार्तिक -

तत्त्वार्थसूत्र पर रची गयी अनेक टीकाओं में से विक्रमीय एकादशवीं शताब्दी के पूर्वार्ध जात आचार्य विद्यानन्दी की ''तत्त्वार्थसूत्र-श्लोकवार्ति-कालंकार' का तीसरा नम्बर है। यह टीका भाष्य के रूप में लिखी गई है। तत्वार्थ के मूल सूत्रों का विवरण लिखने के बाद उसी का सार प्रायः कारिकाओं में दिया गया है।

टीका ग्रंथ का आधे से अधिक भाग प्रथम अध्याय के पांच आह्निकों में पूरा किया है। शेष टीकां ग्रंथ दूसरे अध्याय के तीन आह्निकों और शेष आठ अध्यायों के दो दो आह्निक कल्पित करके पूरा किया है।

टिकाकार ने अपनी टीका में पूर्ववर्ती अनेक ग्रंथकारों तथा विद्वानों का नाम निर्देश किया है।

जैन विद्वानों के नामों में समन्तभद्र का नाम निर्देश मात्र है। तब अकलंकदेव, कुमारनन्दी, श्रीदत्त के नाम वादी के रूप में उल्लिखित हैं। आश्चर्य है देवनन्दी सर्वार्थसिद्धि टीका के कर्त्ता माने जाते हैं, परन्तु ग्रंथ भर में देवनन्दी का नाम निर्देश कहीं नहीं मिलता। अकलंकदेव ने 'सिद्धि-विनिश्चय' की एक कारिका में सिद्धसेन तथा समन्तभद्र नामों के साथ देवनन्दी का भी नाम निर्दिष्ट किया है। परन्तु तत्त्वार्थराजवार्तिक में भी देवनन्दी का उल्लेख नहीं है।

जैनेतर विद्वानों में से टीकाकार ने उद्योतकर, शबर, भर्तृहरि, वराहमिहिर, प्रभाकर भट्ट, धर्मकीर्ति और प्रज्ञाकर गुप्त आदि के अनेक बार नाम निर्देश किये हैं।

ग्रंथकार ने अपने ग्रंथ में अनेक वादों की चर्चा कर उनका खण्डन किया है। स्फोटवाद का तो बहुत ही विस्तार के साथ निराकरण किया है। इतना ही नहीं किन्तु सूक्ष्मा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी नामक शाब्दिकों की चार भाषाओं की चार्चा करके उनका खण्डन किया है।

बौद्धों के अन्यापोहवाद की काफी चर्चा करके उनका खण्डन किया है।

वादी-प्रतिवादी के शास्त्रार्थ सभा का निरूपण तथा उनके जय, पराजय के कारणों का विशद वर्णन किया है।

केवली के कवलाहार मानने वालों को दर्शनमोहनीय कर्म बांधने वाला माना

है। परन्तु स्त्री उसी भव में मोक्ष पा नहीं सकती इसकी चर्चा कहीं नहीं दीखती।

आप्त-परीक्षा और पत्र-परीक्षा :

आचार्य विद्यानन्दी ने आप्तपरीक्षा में 124 कारिकाओं तथा टीका में आप्त पुरुष की चर्चा की है। इस ग्रंथ में जैन जैनेतर विद्वानों के नाम निर्देश निम्न प्रकार से हुए हैं–

समन्तभद्र, अकलंकदेव, शंकर, प्रशस्तकर (वेदान्त) और भट्ट प्रभाकर आदि के नाम उल्लिखित हैं।

'देवागमालंकृतौ तत्त्वार्थालंकारे विद्यानन्दमहोदयैः च विस्तरतो निर्णीतं प्रतिपत्तव्यं।' इस प्रकार आप्तपरीक्षा में अपने लिये उल्लेख किया है, इसी प्रकार तत्त्वार्थवार्तिकालंकार में भी दो एक जगह 'विद्यानन्दमहोदय' शब्द का उल्लेख करके अपने अन्य ग्रंथ की गर्भित सूचना की है।

पत्र–परीक्षा में भी अन्य नामनिर्देशों के अतिरिक्त कुमारनन्दी भट्टारक की तीन कारिकाएँ उद्धृत की हैं। पत्र–परीक्षा में शास्त्रार्थ के लिए पत्रावलम्बन किये जाते थे। उन पत्रों के स्वरूप तथा पंचावयवादि वाक्यों का स्वरूप लिखा है।

आप्त-मीमांसा

वृत्ति–वसुनन्दि, अष्टशती–अकलंक

आप्तमीमांसा की मूल कारिकायें 115 हैं, जो 'देवागम नभोयान–चामरादिविभूतयः' इस पद्य से शुरू होती है। मीमांसा में आचार्य ने आप्त–पुरुष की विस्तृत विचारणा की है और उनके सिद्धान्त प्रमाण नय आदि का समर्थन किया है। साथ–साथ अन्यान्य दार्शनिक मन्तव्यों का निरसन भी किया है।

मूल कृति में कर्ता ने अपना नाम सूचन नहीं किया है, फिर भी टीकाकारों ने इसका कर्त्ता समन्तभद्र माना है और उन्हें सबहुमान वन्दन किया है।

टीकाकार वसुनन्दी ने आचार्य कुलभूषण को नमस्कार कर टीका का प्रारम्भ किया है और अकलंक ने समन्तभद्र को भी नमस्कार कर मीमांसा को शुरू किया है।

'अज्ञानाच्चेद् ध्रुवो.' इस कारिका के विवरण में अकलंक ने ब्रह्मप्राप्ति के सम्बन्ध में उल्लेख किया है।

श्री वसुनन्दि ने अपनी टीका में धर्म-कीर्ति, मस्करि पूरण का भी उल्लेख किया है।

श्री समन्तभद्र का समय इतिहासवेत्ताओं की दृष्टि में ईसा की छठी शताब्दी तथा पट्टावली के अनुसार दूसरी शताब्दी का प्रारम्भिक काल है, ऐसा सम्पादक ने प्रस्तावना में उल्लेख किया है।

हमारी राय में आचार्य समन्तभद्र विक्रमीय पंचम शताब्दी के पूर्ववर्ती नहीं हो सकते।

प्रमाण परीक्षा

प्रमाण-परीक्षा में भिन्न-भिन्न दार्शनिकों के मान्य प्रमाणों की चर्चा करके सत्य ज्ञान को प्रमाण सिद्ध किया है। इस परीक्षा में ग्रंथकार ने भट्टारक कुमारनन्दि, अकलंकदे आदि आचार्यों के मत उद्‌घृत किये हैं और न्यायवार्तिककार उद्योतकर, बौद्ध आचार्य धर्मोत्तर; समन्तभद्र, शाबर भाष्य, प्रभाकर, भट्ट, बृहस्पति, कणाद आदि ग्रंथकारों के भी उल्लेख किये हैं।

आचार्य विद्यानंद ने कुमारनन्दी के नाम के साथ दो स्थानों पर भट्टारक शब्द का प्रयोग किया है। इससे ज्ञात होता है कि विद्यानन्द के समय में 'भट्टारक' युग आरम्भ हो चुका था।

प्रमेयकमलमार्तण्ड

इस ग्रंथ में कुल छः परिच्छेद हैं - 1. प्रमाणपरिच्छेद, 2. प्रत्यक्ष-प्रमाणपरिच्छेद, 3. परोक्षप्रमाणपरिच्छेद, 4. प्रमाण-विषय-फल निरुपण परिच्छेद, 5. प्रमाणाभास परिच्छेद, 6. नय-नयाभासाधिकार परिच्छेद। लेखक की शैली प्रौढ़ है। खण्डनात्मक पद्धति से भिन्न-भिन्न विषयों का निरूपण कर लगभग बारह हजार श्लोक प्रमाणात्मक यह ग्रंथ निर्मित किया है।

यद्यपि ग्रंथ में ऐतिहासिक सूचनों का संग्रह विशेष नहीं है, फिर भी कुछ उल्लेखनीय बातें अवश्य हैं, जो नीचे सूचित की जाती है-

'प्रमेयकमलमार्तण्ड' माणिक्यनन्दी के परीक्षामुख सूत्रों पर विस्तृत भाष्यात्मक टीका है। माणिक्यनन्दी का सत्ता-समय सम्पादक बंशीधरजी शास्त्री ने विक्रम सं. 569 होना बताया है, जो दन्तकथा से बढ़कर नहीं। हमारी राय में माणिक्यनन्दी विक्रम की दशवीं तथा ग्यारहवीं शती के मध्यभाग के व्यक्ति हैं।

ग्रंथकार प्रभाचन्द्र धाराधीश भोजराज के शासनकाल में विद्यमान थे। इससे निश्चित होता है कि इनका सत्ता–समय ग्यारहवीं शताब्दी का मध्यभाग अथवा उत्तरार्ध होना चाहिए।

चामुण्डराय के गुरु नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती के त्रिलोकसार ग्रंथ की कतिपय गाथाएं प्रभाचन्द्र ने अपने इस ग्रंथ में उद्धृत की है। त्रिलोकसार का रचनासमय विक्रम की ग्यारहवीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध है। इससे सुतरां सिद्ध है कि प्रमेय–कमल–मार्त्तण्ड की रचना विक्रमीय एकादशी शती के तृतीय अथवा चतुर्थ चरण की मानी जा सकती है। सम्पदक बंशीधरजी शास्त्री के मत से विक्रम सं. 1060 से 1115 तक का होना निश्चित है।

प्रथम परिच्छेद में ग्रंथकार ने सूक्ष्मा, अनुपश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी इन चार भाषाओं का संक्षेप में स्वरूप बतलाया है।

द्वितीय परिच्छेद के अन्त में लेखक ने केवलो–कवलाहार का खण्डन किया है और स्त्री निर्वाण का भी सविस्तार खण्डन किया है। साथ में सवस्त्र निर्ग्रंथ नहीं हो सकता और नैर्ग्रन्थ्य बिना मुक्ति नहीं हो सकती, इन दो विषयों के सम्बन्ध में लिखी गई युक्तियों में ऐसी कोई भी युक्ति या तर्क दृष्टिगोचर नहीं होता, जो इनकी मान्यता को सिद्ध कर सके।

तृतीय परिच्छेद में बौद्धों के अपोह–सिद्धान्त का भी खण्डन किया है। शब्दाद्वैतवादियों के स्फोट के सम्बन्ध में प्रतिपादन तथा लौकिक वैदिक शब्दों के अर्थ के सम्बन्ध में जैनों का मन्तव्य प्रतिपादित किया है।

अन्तिम प्रशस्ति में ग्रंथकार प्रभाचन्द्र ने माणिक्यनन्दी को गुरु के रूप में याद किया है और अपने को पद्मनन्दि सैद्धान्तिक का शिष्य और श्री रत्ननन्दि का पदस्थित बताया है। धारादीश भोजराज के राज्यकाल में माणिक्यनन्दि के परीक्षामुख सूत्रों पर यह विवरण समाप्त करने का ग्रंथकार ने सूचन किया है।

भद्रबाहु-संहिताः

भद्रबाहुसंहिता का प्रथम भाग पढ़ने से ज्ञात हुआ कि यह ग्रंथ बहुत ही अर्वाचीन है। मुनि जिनविजयजी इसे बारहवीं तेरहवीं शताब्दी का कोने का अनुमान करते हैं, परन्तु यह ग्रंथ पन्द्रहवीं शताब्दी के पूर्व का नहीं हो सकता। इसकी भाषा बिल्कुल सरल और हल्की कोटि की संस्कृत है। रचना में अनेक

प्रकार की विषय सम्बन्धी तथा छन्दो-विषयक अशुद्धियां बताती हैं कि इसको बनाने वाला मध्यम दर्जे का भी विद्वान् नहीं था। 'सोरठ' जैसे शब्दप्रयोगों से भी इसका लेखक पंद्रहवीं तथा सोलहवीं शती का ज्ञात होता है। इसके सम्पदाक श्री नेमिचन्द्रजी इसे अष्टमी शताब्दी की कृति अनुमान करते हैं, परन्तु यह अनुमान केवल निराधार है।

पण्डित जुगलकिशोरजी मुखतार ने इसे सत्रहवीं शती के एक भट्टारकजी के समय की कृति बतलाया है, जो हमारी सम्मति में ठीक मालूम होता है।

हरिवंश पुराण और इसके कर्त्ता आचार्य जिनसेन

1. कथावस्तु का आदार :

प्रस्तुत पुराण के सम्पादक पण्डित श्री पन्नालालजी जैन साहित्याचार्य का अभिप्राय है कि 'हरिवंश-पुराण' का कथावस्तु जिनसेन को अपने गुरु 'कीर्तिषेणसूरि' से प्राप्त हुआ होगा, परन्तु यह अभिप्राय यथार्थ नहीं है। सामान्य रूप से 'हरिवंश-पुराण' का विषय 'महापुराण और त्रिषष्टिशलाका पुरुष चरित्रों' के अन्तर्गत 'नेमिनाथ चरित्र' और 'कृष्ण वासुदेव' आदि के चरित्रों के प्रसंगों पर तो आता ही है परन्तु जिनसेन ने 'हरिवंश' की उत्पत्ति के प्रारम्भ से ही 'वसुदेवहिण्डी' के नाम से श्वेताम्बर सम्प्रदाय में प्रसिद्ध 'वसुदेव-चरित' के आधार से ही सब प्रसंगों को लिखा है। ''वासुदेव-हिण्डी के प्रथम काण्ड' से तो अनेक वृत्तान्त लिये ही हैं, परन्तु 'मध्यम काण्ड' के आधार से भी अनेक प्रकार के तपों का निरूपण किया है जो अधिकांश श्वेताम्बरमान्य आगमों में भी प्रतिपादित हैं।

पुराणकार ने पुराण के प्रथम सर्ग में निम्नोद्धृत श्लोकों में पुराण का विषय निरुपण करने की प्रतिज्ञा की है-

''लोकसंस्थानमत्रादौ, राजवंशोद्भवस्ततः।
हरिवंशावतारोऽतो, वसुदेवविचेष्टितम्।।71।।

चरितं नेमिनाथस्य, द्वारवत्सा निवेशनम्।
युद्धवर्णन-निर्वाणे, पुराणेऽष्टौ शुभा इमे।।72।।''

अर्थात्-'तीन लोक का आकार प्रथम बताकर फिर राजवंशोत्पत्ति; उसके बाद हरिवंशोत्पत्ति, वसुदेव का भ्रमण, नेमिनाथ का चरित्र, द्वारिका नगरी का

निर्माण, युद्ध का वर्णन और नेमिनाथ आदि का निर्वाण, ये आठ अर्थाधिकार इस पुराण में कहे जायेंगे। 71।72।'

लेखक ने सर्वप्रथम तीन लोकों का जो निरूपण किया है वह जैन शास्त्रोक्त है। शेष अर्थाधिकार राजवंशोत्पत्ति, हरिवंशोत्पत्ति, वसुदेव की प्रवृत्ति, नेमिनाथ का चरित्र, द्वारिका का बसाना, युद्ध का वर्णन और निर्वाण का वर्णन 'चउपन्न महापुरिसचरित्र' और 'वसुदेव-हिण्डी' इन प्राचीन ग्रंथों के ऊपर से लिये गये हैं।

2. प्रतिपादन शैली :

सम्पादकों ने आचार्य जिनसेन की इस कृति के सम्बन्ध में अपना अभिप्राय बहुत ही अच्छा व्यक्ति किया है। परन्तु हमको इनके विचारों से जुदा पड़ना पड़ता है, यह दुःख का विषय है। पर इसका कोई प्रतिकार भी तो नहीं । सम्पादकों ने इनकी हर एक प्रवृत्ति और परिपाटी पर सन्तोष व्यक्ति किया है, परन्तु मुजे इनकी प्रतिपादन शैली पर सन्तोष नहीं। जहाँ तक मुझे लेखक की लेखिनी का अनुभव हुआ है, इससे यही कहना पड़ता है कि आपकी लेखिनी परिमार्जित नहीं। पढ़ने पर यही लगता है कि आचार्य धार्मिक सिद्दान्त का ज्ञान प्राप्त करने के उपरान्त व्याकरण पढ़कर 'हरिवंश' की रचना में लगे हैं, इसीलिये लेख में अलंकार और रसपोषण का कहीं दर्शन नहीं होता। युद्ध जैसे प्रसंग में भी 'वीर' अथवा 'अद्भुत' रसों का नाम-निशान नहीं होना-इसका अर्थ यही हो सकता है कि लेखक ने अपनी साहित्यिक योग्यता प्राप्त करने के पहले ही इस पुराण की रचना कर डाली है। इसीलिये कहीं कहीं तो लेख भ्रांति जनक भी हो गया है, जैसे-

'युधिष्ठिरोऽर्जुनो ज्येष्ठो, भीमसेनो महाबलः।
नकुलः सहदेवश्च; पञ्चैते पाण्डुनन्दानाः।। (2)' (45 सर्ग)

अनजान पढ़ने वाले मनुष्य को ऊपर के श्लोक से पाण्डवों के ज्येष्ठादि क्रम में यह भ्रान्ति हुए बिना नहीं रहेगी कि पांच पाण्डवों में युधिष्ठिर, अर्जुन, महाबली भीम, नकुल और सहदेव ये क्रमशः ज्येष्ठ कनिष्ठ थे। इस भ्रान्ति को ध्यान में लेकर यदि नीचे लिखे अनुसार श्लोक बनाकर पाँच पाण्डवों का निरूपण करते तो कैसा स्वाभाविक होता?

'युधिष्ठिरो भीमसेनोऽजुईनश्चापि यथाक्रमम्।
नकुलः सहदेवश्च, पञ्चैते पाण्डुनन्दनाः।।'

3) लेखक ऐतिहासिक, भौगोलिक सीमाओं के अनुभवी नहीं :

तीसरे सर्ग के 5 श्लोकों में कवि ने पंचशैलपुर और पंचशैलों का वर्णन किया है। वे कहते हैं–'पंचशैलपुर श्रीमुनिसुव्रत जिन के जन्म से पवित्र बना हुआ है, जो शत्रु की सेना के लिये, पांच पर्वतों से परिवृत होने से दुर्गम है। पांच शैलों में ''पूर्व की तरफ ऋषिगिरि' है जो चतुरस्र और जल–निर्झरों से युक्त है। यह पर्वत दिग्गज की तरह पूर्व दिशा को सुशोभित करता है। 'वैभार पर्वत जो त्रिकोणाकार' है, दक्षिण दिशा को आश्रित हुआ है। इसी प्रकार 'विपुल पर्वत भी त्रिकोणाकार' है और नैर्ऋत कोण के मध्य में रहा हुआ है। प्रत्यंचा चढ़ाए हुए धनुष की तरह 'बलाहक' नामक चतुर्थ पर्वत उत्तर, बायव्य, पश्चिम इन तीन दिशाओं में व्याप्त है और पांचवां ''पाँडुक'' पर्वत ईशान कोण में स्थित है।

कवि ने जिसको पंचशैलपुर कहा है वह अर्वाचीन राजगृह नहीं क्योंकि राजगृह नगर का निवेश राजा बिम्बिसार के पिता प्रसेनजित के समय में हुआ है, जब कि मुनि सुव्रत तीर्थंकर का जन्म राजगृह में निर्माण के पूर्व ही हो चुका था। उस समय पाँच पर्वतों के बिचला नगर राजगृह अथवा पंचशैलपुर नहीं कहलाता था, किन्तु वह 'गिरिव्रज' के नाम से प्रसिद्ध ता। कवि का पंच–पर्वत–स्थिति विषयक वर्णन भी ठीक प्रतीत नहीं होता।

भगवान् महावीर जब कभी राजगृह की तरफ जाते, तब उसके ईशान दिशा विभाग में अवस्थित 'गुणशिलक' चैत्य में ठहरते थे। महावीर के सभी गणधरों ने राजगृह के गुणशिलक उद्यान में ही अनशन करके निर्वाण प्राप्त किया था। तब महावीर के सैकड़ों साधुओं ने वैभार पर्वत और विपुलाचल पर अनशन करके परलोक प्राप्त किया था। इससे ज्ञात होता है कि महावीर जहाँ ठहरते थे वहाँ से वैभार और विपुलाचल निकटवर्ती थे।

11वें सर्ग के 65वें श्लोक में कवि ने भारत के मध्य–देशों का वर्णन करते हुए सोल्व, आवृष्ट, त्रिगतं, कुशाग्र, मत्स्य, कुणीयान्, कोशल, मोक नामक देसों को मध्यदेशों में परिगणित किया है, जो यथार्थ नहीं है। इन नामों में से पहला नाम भी गलत है। देश का नाम सोल्व नहीं किन्तु 'साल्व' है और यह प्राचीनकाल में पाँच विभागों में बंटा हुआ था और पश्चिम भारत में अवस्थित था। अन्य प्रमाणों से 'आवृष्ट' देश के अस्तित्व का ही समर्थन नहीं होता। त्रिगर्त देश भारत के मध्यभाग में न हीं किन्तु नैर्ऋत कोण दिशा में था, ऐसा प्राचीन संहिताओं से पता लगता है।

'कौशल' भी उत्तर भारत में माना गया है, मध्यभारत में नहीं और 'मोक' देश तो पश्चिम में था। आज के पंजाब से भी काफी नीचे की तरफ, उसको भी मध्यभारत में मानना भूल ही है और 'कुणीयस्' देश का अन्यत्र कहीं उल्लेख नहीं मिलता। 'काक्षि, नासारिक, अगर्त सारस्वत, तापस, माहेभ, भरुकच्छ, सुराष्ट्र और नर्मद' इन देशों को पश्चिम दिशा के देश माने हैं। 'दशार्णक, किष्किन्ध, त्रिपुर, आवर्त, नैषध, नेपाल, उत्तमवर्ण, वैदिश, अन्तप, कौशल, पत्तन और विविहाल' ये विन्ध्याचल के पृष्ठ भाग में थे और 'भद्र, वत्स, विदेह, कुशभंग, सैतव, वज्रखण्डिक' ये देश मध्यभारत के सीमावर्ती माने हैं।

पश्चिम दिसा के देशों में भरुकच्छ और सुराष्ट्र ये दो नाम प्रसिद्ध हैं, शेष सभी अप्रसिद्ध हैं। विन्ध्यपृष्ठवर्ति देशों में किष्किन्ध नैषध और नेपाल के नाम भी असंगत से प्रतीत होते हैं और इनके अतिरिक्त अधिकांश नाम अप्रसिद्ध ही हैं।

आगे 59वें सर्ग में भगवान नेमिनाथ के विहार-वर्णन में तीर्थंकर के अतिशयों का वर्णन करते हुए लिखा है कि जहाँ तीर्थंकर विचरते हैं उस भूमिभाग में ईति उपद्रवादि नहीं होते। अहोरात्रादि समय शुभ बन जाता है और 'अन्धे रूप देखते हैं, बहरे शब्द सुनते हैं, गूंगे स्पष्ट बोलते हैं और पंगुजन भी जोरों से चलने लगते हैं।' इस निरुपण में कवि ने 77 वें श्लोक में अन्धे रूप देखते हैं इत्यादि जो कथन किया है वह शास्त्रानुसारी नहीं है। तीर्थंकरों के पुण्य अतिशयों के कारण ईति उपद्रवादि का शान्त होना, नई अशुभ घटनाओं का न होना और ऋतुओं का अनुकूल होना आदि सब ठीक हैं, परन्तु अन्धे व्यक्ति का देखना, बधिर का सुनना, गूंगे का बोलना और पंगु का चलना इत्यादि बातें अतिशयसाध्य नहीं हैं। ऐसी असम्भवित बातों को सम्भवित मानकर तीर्थंकरों के खरे प्रभाव पर भी लोगों की अश्रद्धा उत्पन्न करना है।

भगवान नेमिनाथ को सुराष्ट्रा, मत्स्य, लाट, सूरसेन, पटच्चर, कुरु, जांगल, कुशाग्र, मगध, अंग-बंग, कलिंगावि अनेक देशों में विहार कराकर कवि मलय देश के भद्दिलपुर नगर के बाहर सहस्राम्रवन में पहुँचाते हैं, परन्तु जैन सूत्रों के आधार से भगवान नेमिनाथ का विहार सुराष्ट्रा के अतिरिक्त उत्तर भारत के देशों में ही हुआ था। भगवान् स्वयं और उनके शिष्य थावच्चा-पुत्रादि हजारों साधु काश्मीरी घाटियों, हिमालय की श्वेत पहाड़ियों और उनके निकटवर्ती नगरों में विचरते थे। थावच्चापुत्र मुनि, उनके शिष्य शुक्र परिव्राजक और उनके हजार शिष्य

उन्हीं धवल पहाड़ियों पर जो पुण्डरीक पर्वत के नाम से पहिचानी जाती थी, अनशन करके निर्वाण प्राप्त हुए थे। तीर्थंकर नेमिनाथ गिरनार पर्वत पर और उनके अनेक शिष्य सौराष्ट्र स्थित 'शत्रुञ्जय' पर्वत पर अनशन करके सिद्ध हुए थे। इस परिस्थिति में नेमिनाथ के अंग, वंग आदि सुदूरपूर्ववर्ती देशों में विहार करने का वर्णन करना संगत नहीं हो सकता।

कवि ने तीर्थंकर नेमिनाथ को अंग, वंग तक ही नहीं दक्षिण में सुदूर द्रविड़ प्रदेश तक भ्रमण करा दिया है। कृष्ण वासुदेव ने जब पाण्डवों को अपने देश से निर्वासन की आज्ञा दी, तब उन्होंने सकुटुम्ब दक्षिण में जाकर मल्ल देश में मथुरा नामक नगरी बसा कर वहाँ का राज्य करने लगे। कालान्तर में तीर्थंकर नेमिनाथ पल्लव देश की तरफ विचरे और पाण्डवों को प्रतिबोध देकर अपने श्रमण शिष्य बनाए। आचार्य जिनेसेन कर्णाटक की तरफ से पश्चिम भारत में आये थे, परन्तु उनके हृदय में दक्षिण भारत के लिये मुख्य स्थान था। इसीलिये इन्होंने दक्षिणापथ की तरफ तीर्थंकर की विहार कराकर उस भूमि को पवित्र करवाया; परन्तु उस प्रदेश को पल्लव लिखकर आपने अपने भौगोलिक और ऐतिहासिक ज्ञान की कमजोरी प्रदर्शित की है। क्योंकि दक्षिण मथुरा के आस-पास का प्रदेश नेमिनाथ के समय पल्लव नाम से प्रसिद्ध होने का कोई प्रमाण नहीं है। दक्षिण प्रदेश में पल्लवों की चर्चा विक्रम की चतुर्थ शती के प्रारम्भ में शुरु होने और आठवीं शती तक उनका उस प्रदेश में राज्य व्यवस्थित रूप से चलने की इतिहास चर्चा करता है। इस परिस्थिति में नेमिनाथ के समय में मदुरा तथा काञ्जिवरं के आस-पास के प्रदेश की 'पल्लव' नाम से प्रसिद्धि नहीं हुई थी और न उस प्रदेश में तब तक सभ्यता का ही प्रचार हुआ था। पाण्डवों के पाण्ड्यमथुरा में भगवान् नेमिनाथ के श्रमणों में से एक स्थविर उस प्रदेश में विहार करके गए थे और उन्हीं के उपदेश से पाण्डवों ने श्रमणधर्म की प्रव्रज्या ली थी और बाद में वे सब सौराष्ट्र की तरफ विहार कर गये थे। जब वे आधुनिक सौराष्ट्र स्थित 'शत्रुञ्जय' पर्वत के आस-पास पहुँचे तो उन्होंने सुना कि 'उज्जयन्त' पर्वत पर भगवान नेमिनाथ का निर्वाण हो चुका है। इस पर से पाण्डवों ने भी शत्रुञ्जय पर जाकर अनशन कर लिया और निर्वाण प्राप्त हुए। श्वेताम्बर साहित्य में नेमिनाथ के विहार और पाण्डवों के प्रतिबोध का वृत्तांत उपर्युक्त मिलता है।

4. आचार्य जिनसेन यापनीयः

आचार्य जिनसेन मूल में यापनीय संघीय थे ऐसा हरिवंश के अनेक पाठों से ध्वनित होता है। इन्होंने पुराण की प्रशस्ति के अन्तिम पद्य में अपनी स्थिति को स्पष्ट कर दिया है। वे कहते हैं–

'व्युत्सृष्टाऽपरसंघसन्ततिबृहत्पुन्नाटसंघान्वये,
व्याप्तः श्री जिनसेनसूरिकविना लाभाय बोधेः पुनः।

दृष्टोऽयं हरिवंशपुण्यचरितः श्रीपर्वतः सर्वतो,
व्याप्ताशामुखमण्डलः स्थिरतरः स्थेयात् पृथिव्यां चिरम्।।'

जिसने अन्य संघों की परम्पराओं को त्याग दिया है ऐसे वृहत् पुन्नाट संघ के वंश में व्याप्त हरिवंशपुराण रूप 'श्रीपर्वत की भवान्तर में बोधिलाभार्थ कवि जिनसेन ने ग्रंथ रचना द्वारा सर्व दिशाओं में प्रसिद्ध किया जो पृथ्वी पर सदा स्थिर रहे।

ऊपर के पद्य में कवि ने दो बातों की सूचना की है–

1) यह कि कवि जिनसेन के पुन्नाट संघ का पहले यापनीय, कूर्चक, श्वेतांबर आदि अनेक अन्य संघों के साथ सम्पर्क था जो जिनसेन की पुराणरचना के पहले ही टूट गया था।

2) हरिवंश पुराण का कथावस्तु पुन्नाट संघ के वंश में से प्राप्त किया है।

1) कवि की अन्य संघों से सम्बन्ध विच्छेद होने की बात बताती है कि प्रस्तुत पुराण का रचनाकाल विक्रम की 11वीं शती के प्रारम्भ का है, पहले का नहीं। क्योंकि विक्रम की दशवीं शती के पूर्वार्ध तक 'यापनीय संघ' उन्नति पर था। 'अमोघ वर्ष' जैसे इसके सहायक थे, आचार्य 'पाल्यकीर्ति (शाकटायन)' जैसे इसके उपदेशक थे। उस समय में यापनीयों का सम्बन्ध अन्य संघों से बना हुआ था। यदी कारण है कि उस समय में केवलिमुक्ति और स्त्रीमुक्ति का समर्थन करने वाले प्रकरण बने थे, परन्तु उसके बाद धीरे-धीरे यापनीय संघ का ह्रास होता गया और परिणामस्वरूप विक्रम की 12वीं शती तक इसका अस्तित्व ही नामशेष हो गया था। नग्नता के नाते अधिकांश यापनीय संघ दिगम्बर परम्परा में सम्मिलित हो गया था। कूर्चक आदि छोटे सम्प्रदाय श्वेताम्बरों के अन्तर्गत हो गये। परिणाम यह आया कि इस समय के बाद के लेखों अथवा ग्रंथों की प्रशस्तियों में ये यापनीय संघ और कूर्चक संघ ये नाम अदृश्य हो गये। आचार्य जिनसेन के अनेक उल्लेखों से प्रमाणित होता है कि पहले वे यापनीय श्रमण, कल्पसूत्र, दशवैकालिक,

उत्तराध्ययन आदि श्वेताम्बर जैनसूत्रों को मानते थे। इसी कारण से इन्होंने अपने इस पुराण में श्वेताम्बर सूत्र ग्रंथों के संस्कृत में नाम निर्देश किये हैं। इतना ही नहीं, कहीं-कहीं तो गाथाओं और उनके चरणों के संस्कृत भाषान्तर तक कर दिये हैं।

दशम सर्ग के 134, 135, 136, 137, 138 तक के पाँच श्लोकों में अंगबाह्य श्रुत का वर्णन करते हुए आपने लिखा है कि 'दशवैकालिक सूत्र', साधुओं की गोचरचर्या की विधि बतलाता है। 'उत्तराध्ययन' सूत्र वीर के निर्वाणगमन को सूचित करता है। 'कल्प-व्यवहार' नाम का शास्त्र श्रमणों के आचारविधि का प्रतिपादन करता है और अकल्प्य सेवना करने पर प्रायश्चित्त का विधान करता है। 'कल्पाकल्प' संज्ञक शास्त्र कल्प और अकल्प दोनों का निरूपण करता है। 'महाकल्प सूत्र' द्रव्य-क्षेत्रकालोचित साधु के आचारों का वर्णन करता है, 'पुण्डरीक' नामक अध्ययन देवों की उत्पत्ति का और 'महापुण्डरीक' अध्ययन देवियों की उत्पत्ति का प्रतिपादन करने वाला है और 'निषद्यका' नामक शास्त्र प्रायश्चित की विधि का प्रतिपादन करता है। इस प्रकार अंगबाह्य श्रुत का प्रतिपादन किया।

कवि जिनसेन का उपर्युक्त निरूपण अर्धसत्य कहा जा सकता है, क्योंकि इसमें कोई कोई बात श्वेताम्बरों की मान्यातानुसार है। तब कोई उसके विरुद्ध भी, 'दशवैकालिक' के विषय में इनका कथन श्वेताम्बरीय मान्यतानुगत है, तब उत्तराध्ययन के सम्बन्ध में जो लिखा है, वह यथार्थ नहीं। उत्तराध्ययन में महावीर के निर्वाण गमन सम्बन्धी कोई बात नहीं है, परन्तु कल्प सूत्र में 36 अपृष्ट व्याकरण के अध्ययनों की जो बात कही है, उसके ऊपर से उत्तराध्ययन के 36 अध्ययन मानकर वीर के निर्वाण गमन की बात कह डाली है। 'कल्प व्यवहार' नामक शास्त्र को एक समझ कर इसका तात्पर्य आपने समझाया, परन्तु वास्तव में 'कल्प' तथा 'व्यवहार' भिन्न-भिन्न हैं। पहले में प्रायश्चितों की कल्पना और दूसरे में उनके देने की मुख्यता है।

'कल्पिका-कल्पिक' नामक शास्त्र श्वेताम्बर सम्प्रदाय में अवश्य था परन्तु उसका विच्छेद बहुत काल पूर्व हो चुका है। 'महाकल्प' भी श्वेताम्बर सम्प्रदाय में अवश्य था, परन्तु इसका भी विच्छेद हुए लगभग 1500 वर्ष हो चुके हैं। देवों तथा देवियों की उत्पत्ति का निरूपण करने वाले ग्रंथों को जिनसेनसूरि क्रमशः 'पुण्डरीक' तथा 'महापुण्डरीक' नाम देते हैं, परन्तु यह मान्यता भी आपकी सुनी

सुनायी प्रतीत होती है। जहाँ तक हमने देखा है श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों सम्प्रदायों में उपर्युक्त नाम वाले ग्रंथ नहीं हैं। कवि ने प्रायश्चित्तविधि को बताने वाला 'निषद्यका' नाम का शास्त्र बताया है। यह नाम दिगम्बरों में प्रसिद्ध है, परन्तु श्वेताम्बर संप्रदाय में इस ग्रंथ को 'निशीथ' कहते हैं।

18वें सर्ग के 37वें श्लोक में 'दशवैकालिक' के प्रथम अध्ययन की प्रथम गाथा का पूर्वार्ध का संस्कृत रूपान्तर बनाकर ज्यों का त्यों रख दिया है।

'दशवैकालिक' की प्रथम गाथा का पूर्वार्ध 'धम्मो मंगलमुक्किट्ठ, अहिंसा संजमो तवो' जिनसेनसूरि का उक्त गाथार्ध का संस्कृत-अनुवाद-'धर्मो मंगलमुत्कृष्ट-महिंसा संयमस्तपः'।

उक्त प्रकार के पुराणान्तर्गत अनेक प्रतीकों से ज्ञात होता है कि आचार्य जिनसेन और इनके पूर्व गुरु यापनीय संघ में होंगे; अन्यथा श्वेताम्बरों में प्रचलित ग्रंथ सूत्रों के नाम और उनके प्रतीक इनके पास नहीं होते। मालूम होता है जिनसेन के समय तक इनका श्वेताम्बरीय सम्बन्ध पर्याप्त रूप से छूट चुका था इसीलिये कई सूत्रों की परिभाषाओं के सम्बन्ध में आपने अतथ्य निरूपण किया है। इनके बाद के वसुनन्दी आदि टीकाकार आचार्यों ने वट्टकेर कृत 'मूलाचार' की श्वेताम्बरीय सूत्र गाथाओं की व्याख्या करने में बहुत ही गोलमाल किया है। ज्यों-ज्यों समय बीतता गया त्यों-त्यों दोनों सम्प्रदायों के बीच पार्थक्य बढ़ता ही गया।

यद्यपि 'जिनसेन' हरिवंशपुराण का कथावस्तु बृहत् पुन्नाट संघ के वंश में से उपलब्ध होने की बात करते हैं, परन्तु वस्तुतः 'हरिवंश का कथावस्तु वासुदेवहिण्डी और चउपन्न महापुरुषचरित्र' आदि प्राचीन प्राकृत ग्रंथों के आधार से लिया है।

5) जिनसेन के पूर्ववर्ती विद्वान् :

आचार्य जिनसेनसूरि ने अपने पुराण के प्रथम सर्ग में अपने पूर्ववर्ती कतिपय विद्वानों का स्मरण किया है, जिनमें समन्तभद्र, सिद्धसेन, देवनन्दी, वज्रसूरि, महासेन, शान्तिषेण, प्रभाचन्द्र, प्रभाचन्द्र के गुरु कुमारसेन, वीरसेन के गुरु और जिनसेन स्वामी आदि प्रमुख हैं। इनमें आचार्य समन्तभद्र, सूक्तिकार सिद्धसेन, व्याकरण ग्रंथों के दर्सी देवनन्दी, वज्रसूरि आदि के नाम आने स्वाभाविक हैं। क्योंकि ये सभी आचार्य हरिवंशकार जिनसेन के निसन्देह पूर्ववर्ती थे, पन्तु कतिपय नामों का इस पुराण में स्मरण होना शंकास्पद प्रतीत होता है। कुमारसेन,

वीरसेन, महापुराण के कर्त्ता 'जिनसेन और प्रभाचन्द्र' का नाम 'हिरवंश पुराण' में आना एक नयी समस्या खड़ी करता है। क्योंकि 'महापुराण' के कवि जिनसेन अपने ग्रंथ में हरिवंशपुराणकार जिनसेन की याद करते हैं, तब 'हरिवंश पुराण' में पुन्नाट संघीय कवि जिनसेन, जिनसेन स्वामी की कीर्ति 'पार्श्वाभ्युदय' नामक काव्य में कहते हैं। इसी प्रकार 'हरिवंशपुराण' में 'न्यायकुमुदचन्द्रोदय' के कर्त्ता प्रभाचन्द्र और उनके गुरु आचार्य कुमारसेन का नामोल्लेख होना भी समयविषयक उलझन को उत्पन्न करने वाला है।

भट्टारक वीरसेन ने भी हरिवंशपुराणकार आचार्य जिनसेन का अपने ग्रंथ में स्मरण किया है, इसी प्रकार आचार्य वीरसेन ने अपने ग्रंथ में प्रभाचंद्र का नाम निर्देश किया है और प्रसिद्ध कवि 'धनञ्जय' की 'नाममाला' का अपने ग्रंथ में एक पद्य उद्धृत किया है। आचार्य प्रभाचन्द्र और कवि धनञ्जय मालवा के राजा भोज की राजसभा के पण्डित थे। इन सब बातों पर विचार करने से आचार्य वीरसेन भट्टारक हरिवंश पुराणकार आचार्य जिनसेन आदि के सत्ता-समय की वास्तविकता पर अंधकार फैल जाता है। यदि भट्टारक वीरसेन और पुन्नाट संघीय जिनसेन समकालीन थे तो इन्होंने अपने अपने ग्रंथों में एक दूसरे के नाम निर्देश कैसे किये? क्योंकि धवला टीकाकार वीरसेन स्वामी सुदूर दक्षिणापथ में मूड़बिद्री की तरफ विचरते थे और टीकाओं का निर्माण कर रहे थे, तब हरिवंश पुराणकार आचार्य जिनसेन भारत की पश्चिम सीमा पर वर्द्धमान नगर में रहकर 'हरिवंशपुराण' की रचना कर रहे थे और इन दोनों आचार्यों की कृतियों की समाप्ति में भी तीन वर्षों से अधिक अन्तर नहीं है। इस परिस्थिति में उक्त आयार्यों द्वारा अपने ग्रंथों में एक दूसरे का उल्लेख होकर स्वाभाविक प्रतीत नहीं होता।

हरिवंशपुराण में आचार्य प्रभाचंद्र और इनके गुरु कुमारसेन के नाम उपलब्ध होते हैं। इन गुरु-शिष्यों का सत्ता-समय विक्रम की 11वीं शती का द्वितीय चरण हो सकता है।

कवि धनञ्जय जो 'धनञ्जयनाममाला' के कर्ता थे और भोज राजा के सभा-पण्डित, इनका समय भी विक्रम की ग्यारहवीं शती के द्वितीय चरण से पहले का नहीं हो सकता।

आचार्य जिनसेन ने अपने 'हरिवंशपुराण' के निर्माणकाल में किस दिशा में कौन राजा राज्य करता था इसका निम्नलिखित पद्य में निरूपण किया है-

'शाकेष्वब्दशतेषु सप्तसु दिशं पंचोत्तरेषूत्तरां,
पातीन्द्रायुधनाम्नि कृष्णनृपजे श्रीवल्लभे दक्षिणाम्।
पूर्वां श्रीमदवन्तिभूभृतिनृपे वत्सादिराजेऽपरां;
सूर्याणामधिमण्डलं जययुते वीरे वराहेऽवति।।52।।'

अर्थात्-जिनसेन कहते हैं-705 संवत्सर बीतने पर उत्तर दिशा का इन्द्रयुध नामक राजा रक्षण कर रहा था। कृष्ण राजा का पुत्र श्रीवल्लभ दक्षिण दिशा का रक्षण कर रहा था। अवन्तिराज पूर्व दिशा का पालन कर रहा था, पश्चिम दिशा का श्रीवत्सराज शासन कर रहा था और सूरमण्डल अर्थात् सौराष्ट्र मण्डल का विजयी वीर वराह घरणी बराह रक्षण कर रहा था।

'कल्याणैः परिवर्धमानविपुलश्रीवर्धमाने पुरे,
श्रीपार्श्वालयनन्नराजवसती पर्याप्तसेषः पुरः।
पश्चाद्दोस्तटिका प्रजाग्रजनिता प्राजार्चनावर्चने,
शान्तेः शान्तिगृहे जिनस्य रचितो वंश्री हीरणामयम्।।53।।

अर्थात्- उस समय कल्याणों से बढ़ते हुए श्रीवर्धमानपुर में 'नन्नराज वसति' नामक पार्श्वनाथ जिनालय में हरिवंशपुराण को अधिकांश पूरा किया था और शेष रहा हुआ पुराण का भाग 'दोस्तटिका' नामक स्थान में शान्तिदायक शान्तिनाथ के चैत्य में रहकर पूरा किया।

आचार्य जिनसेन उक्त 52वें पद्य के चतुर्थ चरण में सौराष्ट्र-मण्डल के शासक का नाम 'वराह' लिखते हैं। पुराण के सम्पादक वराह के साथ 'जय' शब्द जोड़कर उसका नाम 'जयवराह' बनाते हैं, जो असंगत है। क्योंकि 'जयवराह'नामक सौराष्ट्र का शासक कोई राजा ही नहीं हुआ। जिनसेन ने 'वराह' शब्द का प्रयोग 'धरणिवराह' के अर्थ में किया है, परन्तु 'धरणीवराह' के सत्तासमय के साथ पुराणकार का समय संगत न होने के कारण धरणीवराह को छोड़कर 'जयवराह' को उसका उत्तराधिकारी होने की कल्पना करते हैं, जो निराधार है। 'वराह' यह कोई जातीय नाम नहीं, किन्तु 'धरणीवराह' का ही संक्षिप्त नाम 'वराह' है।

जिनसेन के उपर्युक्त पद्य में सूचित 'इन्द्रायुध' राजा का समय विक्रम संवत् 840, वत्सराज पुत्र द्वितीय नागभट का राज्य विक्रम सं. 857-863 तक विद्वान् मानते हैं। श्रीवल्लभ का समय विक्रम सं. 827 के लगभग अनुमान करते हैं, तब 'धरणीवराह' जो चापवंशीय राजा था उसका सत्ता-समय शक सं. 836 में माना

गया है जो विक्रम सं. 971 के बराबर होता है। इस प्रकार हरिवंशपुराणकार आचार्य जिनसेन का निर्दिष्ट समय इतिहाससंगत नहीं होता।

उपर्युक्त तमाम असंगतियों के निराकरण का उपाय हमको एक ही दृष्टिगोचर होता है और वह है जिनसेन के शक संवत को 'कलचुरी संवत्' मानना। आचार्य जिनसेन उसी प्रदेश से विहार कर वर्द्धमान नगर की तरफ आये थे कि जहाँ कलचुरी संवत् ही प्रचलित था। इस दशा में हरिवंशपुराणकार द्वारा कलचुरी संवत् की पसन्दगी करना बिलकुल स्वाभाविक है। कलचुरी सं. ईशा. से 249 और विक्रम से 306 के बाद प्रचलित हुआ था।

1) जिनसेन के 'हरिवंशपुराण' की समाप्ति 705 कलचुरी संवत्सर में हुई थी। इसमें 306 वर्ष मिलाने पर विक्रम वर्ष 1011 आयेंगे[1]। इससे 'धरणीवराह' और जिनसेन के समय की संगति भी हो जाती है। पुन्नाट संघीय जिनसेन की तरह ही भट्टारक वीरसेन तथा उनके शिष्य स्वामी जिनसेन का समय भी कलचुरी संवत्सर मान लेने पर इनके ग्रंथों में होने वाले प्रभाचन्द्र, कवि धनञ्जय आदि के निर्देशों की भी संगति बैठ जायगी।

जिस हैहय राजवंश की तरफ से कलचुरी संवत् प्रचलित हुआ था, उसका श्रृङ्खलाबद्ध इतिहास वि.सं. 920 के आसपास से मिलता है और इसके पूर्व का कहीं कहीं प्रसंगवशात् निकल आता है। इससे भी प्रमाणित होता है कि विक्रम की दशवीं शती में कलचुरी संवत् का सब से अधिक व्यवस्थित प्रचार चल पड़ा था। हैहयौं के देश ें ही नहीं गुजरात के चौलुक्य, गुर्जर, सेन्द्रक और त्रैकूटक के राजाओं के ताम्रपत्रों में भी यही संवत् लिखा जाता था। इससे भी निश्चित होता है कि जिनसेन का 705 वर्ष परिमित शक-संवत् वास्तव में कलचुरी संवत् है।

उपर्यूक्त मान्यता के अनुसार पुन्नाटसंघीय आचार्य जिनसेन का सत्ता समय विक्रम की 11वीं शती तक पहुँचता है जो ठीक ही है। क्योंकि हरिवंशपुराण में

1. हैहयों का राज्य बहुत प्राचीन समय से चला आता था, परन्तु अब उसका पूरा-पूरा पता नहीं लगता। उन्होंने अपने नाम का स्वतंत्र संवत् चलाया था जो कलचुरी संवत् के नाम से प्रसिद्ध था। परन्तु उसके चलाने वाले राजा के नाम का कुछ पता नहीं लगता। उक्त संवत् वि. सं. 306 आश्विन शुक्ला 1 से प्रारंभ हुआ और 14 वीं शताब्दी के अंत तक वह चलता रहा। कलचुरियों के सिवाय गुजरात (लाट) के चौलुक्य गुर्जर सेन्द्रक और त्रैकूटक वंश के राजाओं के ताम्र-पत्रों में भी यह संवत् लिखा मिलता है।

(भारत के प्राचीन राजवंश, प्रथम भाग पृ. 38)

ऐसी अनेक बातों के उल्लेख मिलते हैं, जो जिनसेन को विक्रम की 11वीं शती के पहले के मानने में बाधक होते हैं। इस प्रकार के कतिपय उल्लेख उपस्थित करके पाठकगण को दिखायेंगे कि आचार्य जिनसेन की ये उक्तियाँ उन्हें अर्वाचीन प्रमाणित करती हैं।

पुराण के नवम सर्ग में निम्नलिखित समस्यापूर्ति उपलब्ध होती है, जैसे-

''दृष्टं तैमिरिकं कैश्चिदन्धकारेऽपि तादृशे।
स्पर्धमेव हि चन्द्राक्षैः शतचन्द्रं नभस्तलम्।।106।।''

इस श्लोक का 'शतचंद्र नभस्तलम्' यह समस्या-पद विक्रमीय 12वीं, 13वीं शदी के पूर्ववर्ती किसी साहित्यिक ग्रंथ में दृष्टिगोचर नहीं हुआ। इससे जाना जाता है कि उक्त समस्या-पद विक्रम की 11वीं शती के पहले का नहीं है।

पुराण के 14वें सर्ग के 20वें श्लोक में -

''हिन्दोलग्रामरागेण, रक्तकण्ठा धरश्रियः।
दोलाद्यान्दोलनक्रीडा; व्यासक्ता कोमलं जगुः ।।20।।''

इस प्रकार हिन्डोल राग दोलान्दोलन क्रीड़ा आदि शब्द अर्वाचीनता सूचक हैं। प्राचीन साहित्य में सप्तस्वरों का विवरण अवश्य मिलता है, परन्तु हिन्दोल राग, दोलान्दोलन क्रीड़ा आदि शब्द हमने 12वीं शती के पहले के किसी भी साहित्यिक अथवा संगीत के ग्रंथों में नहीं देखे।

हरिवंश के 40वें सर्ग के -

''प्रशस्ततिथि-नक्षत्र-योग-वारादि लब्धयः।
सुलब्धसुकुला भूपा, जग्मुरल्पैः प्रयाणकैः ।।24।।''

उपर्युक्त श्लोक में तिथि, नक्षत्र, योग के अतिरिक्त 'वार' शब्द का प्रयोग किया गया है जो ग्रंथ की अर्वाचीनता का सूचक है। क्योंकि नयी पद्धति का भारतीय ज्योतिष विक्रम की 10वीं शती के पहले लोकमान्य नहीं हुआ था। सर्वप्रथम तिथि, नक्षत्र और मुहूर्त प्रचलित थे, फिर करण आया परन्तु वार को कोई नहीं पूछता था। करण के बाद 'लग्न शब्द कहीं-कहीं प्रयुक्त होने लगा, जो नवमी शती के किसी किसी लेख-ग्रंथ में मिलता है और वार बाद तो नवमी शती तक भी किसी लेख या प्रशस्ति में दृष्टिगोचर नहीं होता। विक्रम की दशवीं शती के एक-दो लेखों में एक-दो स्थानों में वार शब्द दृष्टिगोचर हुआ है। इससे इतना कह

सकते हैं कि 'हरिवंशपुराण' की रचना के समय में वार शब्द प्रयोग में आने लगा था।

हरिवंश के 58वें सर्ग के श्लोक में आया हुआ अविद्या शब्द शंकराचार्य के ब्रह्मवाद के प्रचार के बाद का है। शंकराचार्य का सत्ता-समय विक्रम की नवी शती में माना गया है। इससे ज्ञात होता है, आचार्य शंकर के ब्रह्मवाद का सार्वत्रिक प्रचार होने के बाद, आचार्य जिनसेन ने हरिवंशपुराण की रचना की है।

हिरवंश के 66वें सर्ग में भारत में दीपावली प्रचलित होने के कारण बताये हैं और तब से दीपावली भारत में होने का लिखा है। दीपावली की इस कथा से भी जिनसेन का यह पुराण अर्वाचीन ठहरता है। श्वेताम्बर साहित्य में दीपावली की कथा 12वीं शती के पहले की उपलब्ध नहीं होती।

हरिवंश के कवि आचार्य जिनसेन ने 24 तीर्थंकरों के शासनदेव-देवियों का सूचन किया है और 'अप्रतिचक्रा' तथा 'ऊर्जयन्तस्थ अम्बादेवी' का उल्लेख किया है। इतना ही नहीं बल्कि ग्रह, पिशाच, राक्षस आदि जो लोक-विघ्नकारी है उनको जिनेश्वर शासनदेवगण अपने प्रभाव और शक्ति से शान्त करें और इच्छित कार्य की सिद्धि दें, ऐसी हरिवंश-पुराणकार ने पढ़ने वालों के लिये आशंसा की है। इस प्रकार देवताओं की आशा और विश्वास 10वीं 11वीं शती के पूर्वकालीन जैन श्रमणों में नहीं था।

पुन्नाटसंघीय आचार्य जिनसेन की गुरु-परम्परा-

आचार्य जिनसेन ने 'हरिवंशपुराण' के अन्तिम सर्ग में अपनी गुर्वावली के नामों की बड़ी सूची दी है। इस सूची के प्रारम्भिक लोहार्य तक के नाम 'त्रैलोक्यप्रज्ञप्ति' आदि अन्य ग्रंथों में मिलते हैं, परन्तु इनके आगे के विनयधर, श्रुतगुप्त, ऋषिगुप्त, शिवगुप्त, मन्दरार्य, मित्रवीर्य, बलमित्र, देवमित्र, सिंहबल, वीरवित्त, पद्मसेन, व्याघ्रहस्त, नागहस्ती और जितदण्ड ये 14 प्रकीर्णक नाम शंका से रहित नहीं हैं। क्योंकि प्रस्तुत पुराण के अतिरिक्त अन्य किसी ग्रंथ या शिलालेख में इन नामों का क्रमिक उपन्यास नहीं मिलता और इनके आगे के नन्दिषेण से जिनसेन पर्यन्त के 18 अव्यवच्छिन्न सेनान्त नाम हैं। इस नामावली में भी हमको तो कृत्रिमता की गन्ध आती है, क्योंकि सेनान्त नामों की इतनी लम्बी सूची अन्यत्र नहीं मिलती। आचार्य जिनसेन ने अपने 'हरिवंशपुराण' के शक सं. 705 का उल्लेख किया है, अर्थात् इस संवत्सर में 'हरिवंशपुराण' की समाप्ति

सूचित की है। इनके पूर्ववर्ती सेनान्त नामों में नन्दिषेण यह नाम 18वाँ होता है। प्रति नाम के पीछे उनके सत्ता-समय के 25 वर्ष मान लिये जाएँ,तो भी नन्दिषेण का समय जिनसेन के पहले 450 वर्ष पर पहुँचता है। परन्तु प्राचीन शिलालेखों तथा ग्रंथों में सेनान्त नामों का कहीं नाम-निशान नहीं मिलता।

इस विषय में डा. गुलाबचन्द्र जी चौधरी लिखते हैं-

यद्यपि लेखों में इसका सर्वप्रथम उल्लेख मूलगुण्ड से प्राप्त नं. 137 (सन् 903) में हुआ है, पर इसके पहले नवमी शताब्दी के उत्तरार्ध (सन् 898 के पहले) में उत्तरपुराण के रचयिता गुणचंद्र ने अपने गुरु जिनसेन औरदादागुरु वीरसेन को सेनान्वयी कहा है। पर जिनसेन और वीरसेन ने 'जयधवला' और 'धवला टीका में' अपने वंश को पंचस्तूपान्वय लिखा है। यह 'पंचस्तूपान्वय' ईसा की पांचवीं शताब्दी में निर्ग्रंथ सम्प्रदाय के साधुओं का एक संघ था। यह बात पहाड़पुर (जिला राजशाही, बंगाल) से प्राप्त एक लेख से मालूम होती है। पंचस्तूपान्वय का सेनान्वय के रूप में सर्वप्रथम उल्लेख गुणचन्द्र ने अपने गुरुओं के सेनान्त नामों को देखते हुए किया है। इससे हम कह सकते हैं, गुणभद्र के गुरु जिनसेनाचार्य इस गण के आदि आचार्य थे।'

उपर्युक्त विवेचन से यह निश्चित होता है कि 'सेन-गण' और 'सेनान्त' नामों का जन्म विक्रम की 10वीं शती में हुआ था। इस दशा में हरिवंशपुराणकार जिनसेन की गुरु-परम्परा -नामावली पर कहां तक विश्वास किया जाए इस बात का निर्णय पाठकगण स्वयं कर सकते हैं।

श्वेताम्बर परम्परा में गणधर सुधर्मा से देवर्द्धिगणि पर्यन्त 27 श्रुतधरों में 980 वर्ष पूरे होते हैं, परन्तु दिगम्बर सम्प्रदाय इन्द्रभूति से लोहाचार्य पर्यन्त के 28 पुरुषों में 683 वर्ष व्यतीत करता है और इसमें 3 केवलियों के 65, 5 चतुर्दश पूर्वधरों के 100, 11 दश पूर्वधरों के 183; 5 एकादशांगधरों के 220, 4 आचारांगधरों के 118 सब मिलाकर 683 वर्ष पूरे किये जाते हैं। यह कालगणना स्फुट और निःसंदेह नहीं है। दिगम्बरीय मान्यतानुसार गौतम को और इनके 8 वर्ष केवलि पर्याय के हटा देने पर शेष नाम 27 और सत्ता-समय के वर्ष 675 रहते हैं जो कम ज्ञात होते हैं। गुरु-शिष्य क्रम से गिनने से 6-7 नाम बढ़ते हैं, मुकाबिले में वर्ष घटते हैं। पर अनुयोगधरों के क्रम से वर्षों का घटना गणना की अनिश्चितता का सूचक है। गुरु-शिष्य के क्रमानुसार देवर्द्धि 34वें पुरुष थे, पर अनुयोगधर क्रम से

27वें पुरुष और समय दोनों क्रमों में वह है 980 वर्ष परिमित। इस हिसाब से दिगम्बरीय गणना के आधार से 28 युगप्रधानों का समय 683 वर्ष होना कम है। आचार्य जिनसेन की गुर्वावली के हर नाम गुरु शिष्य क्रम से मान लिये जायें ते भी इनके सत्ता समय के वर्ष प्रति पीढ़ी 25 मानने पर भी 800 मानने पड़ेंगे। 683-800-1483 होंगे, इनमें से 470 वर्ष बाद देने पर शेष 1013 रहेंगे और इस परिपाटी से भी पुन्नाट संघीय आचार्य जिनसेन का सत्ता समय विक्रम की ग्यारहवीं शती का प्रथम चरण ही सिद्ध होगा।

आचार्य गुणधर एवं आचार्य धरसेन-एक अध्ययन

श्रुतावतार कथाकार इन्द्रनन्दी का कथन बिल्कुल ठीक है कि उसके पास 'गुणधर' और 'धरसेन' की वंश-परम्परा जानने का कोई साधन नहीं था, क्योंकि उक्त दोनों आचार्य श्वेताम्बर परम्परा के अनुयायी श्रुतधर थे। गुणधर निवृत्ति परम्परा के आचार्य थे, जो विक्रम की सप्तम शती के आरम्भ में होने वाले 'कर्मप्राभृत' के जानने वाले विद्वान् थे और 'कर्मप्राभृत' के आधार से ही आपने गाथाओं में 'कषायपाहुड़' बनाया था। इन्हीं को परम्परा में होने वाले 'गर्गर्षि' आदि आचार्यों ने विक्रम की नवमी और दशमी शती के मध्यभाग में कर्मसिद्धान्त का प्रतिपादन करने वाला 'पंचसंग्रह' नामक मौलिक ग्रंथ बनाया था, जिसके आधार से ग्यारहवीं शती तथा इसके परवर्ती समय में अमितगति, नेमिचंद्र, पद्मनन्दी आदि विद्वानों ने संस्कृत तथा प्राकृत भाषाओं में 'पंच-संग्रहों' की रचनाएँ की हैं।

इसी प्रकार आचार्य धरसेन भी श्वेताम्बर परम्परा के स्थविर थे। इनका विहार बहुधा सौराष्ट्र भूमि में होता था। आप 'योनि-प्राभृत' के पूर्ण ज्ञाता थे और 'योनि-प्राभृत' नामक श्रुतज्ञान का ग्रंथ आप ही ने बनाया था, जो आज भी पूना के एक पुस्तकालय में खण्डित अवस्था में उपलब्ध होता है। अधिक संभव है कि आचार्य वृद्धवादी, सिद्धसेन दिवाकर आदि प्रखर विद्वान् इन्हीं धरसेन की परम्पराखनि के मूल्यवान् रत्न थे, क्योंकि आचार्य 'सिद्धसेन दिवाकर' के पास भी 'योनिप्राभृत' का विय़ पूर्णरूपेण विद्यमान था, ऐसा 'निशीथ' चूर्णि के आधार से जाना जाता है। आचार्य धनसेन का सत्तासमय विक्रम को तीसरी शताब्दी का अन्तभाग और चौथी का प्रारंभ भाग था।

श्रुतावतार के लेखानुसार 'वीरनिर्वाण से 683 के बाद श्रीदत्त, शिवदत्त, अर्हद्त्त, अर्हद्बलि और माघनन्दी मुनि का क्रमिक समय व्यतीत होने के बाद कर्मप्राभृत के जानकार धरसेन आचार्य का अस्तित्व लिखा है। इस क्रम से धरसेन का सत्ता-समय निर्वाण की आठवीं शती तक पहुँचता है। धरसेन से भूतबलि, पुष्पदन्त कर्म-प्राभृत पढ़े थे और उन्होंने उसके आधार से ''षट्खण्डागम' का निर्माण किया है, इस क्रम से भूतबलि, पुष्पदन्त का समय जिन-निर्वाण की नवम शती तक अर्थात् विक्रम की पंचमी शती के अन्त तक गुणधर आचार्य का समय पहुंचता है और पल्लीवाल गच्छीय प्राकृत-पट्टावली के आधार से भी गुणधर

आचार्य से भी गुणधर आचार्य का समय विक्रम की छठी शती में ही पड़ता है।

'कषाय-प्राभृत' ऊपर के चूर्णिसूत्र भी वास्तव में किसी श्वेताम्बर आचार्य निर्मित प्राकृत चूर्णि है, जो बाद में शौरसेनी भाषा के संस्कार से दिगम्बरीय चूर्णि-सूत्र बना दिए गए हैं। 'यतिवृषभ' और 'उच्चारणाचार्य' ये दो नाम भट्टारक वीरसेन के कल्पित नाम हैं। 'जदिवसह' इत्यादि गाथाएँ भट्टारक वीरसेन ने चूर्णि के प्रारंभ में लिखकर 'यतिवृषभ' को कर्त्ता के रूप में खड़ा किया है। वास्तव में चूर्णिकर्त्ताओं की चूर्णियों के प्रारम्भ में इस प्रकार का मङ्गलाचरण करने की पद्धति ही नहीं है।

इसी प्रकार सैद्धान्तिक श्रीमाघनन्दी और बालचन्द्र ने 'तिलेयपण्णत्ति' नामक एक संग्रह ग्रंथ का सन्दर्भ बनाकर उसे 'यतिवृषभ' के नाम चढ़ा दिया है जो वास्तव में 13वीं शती की कृति है और दिगम्बर ग्रंथों का ही नहीं, विशेषकर श्वेताम्बर ग्रंथों में से सैकड़ों विषयों का संग्रह करके दिगम्बर जैन साहित्य में एक कृति की वृद्धि की है। इसमें जैन श्वेताम्बर मान्य 'आवश्यक निर्युक्ति' 'बृहत्संग्रहणी' और प्रवचन-सारोद्धार' आदि ग्रंथों की संगृहीत करके इसका कलेवर बढ़ाया गया है। इसमें लिखे गये 24 तीर्थंङ्करों के चिह्न (लांछन) 'प्रवचनसारोद्धार' के ऊपर के लिये गए हैं। 24 तीर्थंङ्करों के यक्ष-यक्षिणियों की नामवलि पादलिप्तसूरि की 'निर्वाण कलिका' से लो गई है। तीर्थङ्करों की दीक्षा भूमि, निर्वाण भूमि, जन्म-नक्षत्र श्रदि सैकड़ों बातों का श्वेताम्बरों की 'आवश्यक-निर्युक्ति' से संग्रह किया गया है। यह पद्धति दिगम्बरों में एक सांकेतिक परम्परा सी हो गई है, कि कोई भी अच्छा जैन दिगम्बर विद्वान् कुछ अपनी रचनाएँ अपने पूर्वाचार्यों के नाम से अंकित करके अपने भंडारों में रख दे। 'कषाय-पाहुड़' को चूर्णि का कर्त्ता कौन था, यह कहना तो कठिन है, परन्तु इस चूर्णि में 'स्त्रीवेद' वाला जीव सयोगी केवली पर्यन्त के गुणस्थानों का स्पर्श करने की जो बात कही है, वह श्वेताम्बर मान्य है इससे इतना तो निश्चित है कि इस चूर्णि का निर्माता श्वेताम्बराचार्य अथवा तो यापनीय सम्प्रदाय को मानने वाला कोई विद्वान् साधु होना चाहिए। यही कारण है कि भट्टारक वीरसेन ने चूर्णि के कई मन्तव्यों पर अपनी असम्मति प्रकट की है।

'श्वेताम्बर' तथा 'यापनीय' संघ के अनुयायी सदा से स्त्रीनिर्वाण को मानते आये हैं। दिगम्बर सम्प्रदाय के अनुयायियों ने विक्रम की दशवीं शती से स्त्री निर्वाण

का विरोध प्रारम्भ किया था, क्योंकि इसके पूर्वकालीन किसी भी ग्रंथ में दिगम्बर जैन विद्वान् ने स्त्री–निर्वाण का खंडन नहीं किया। 'तत्त्वार्थ सूत्र' की 'सर्वार्थसिद्धि' टीका में आचार्य देवनन्दी ने 'केवली को कवलाहार मानने वालों को सांशयिक मिथ्यात्वी कहा है', परन्तु स्त्री–निर्वाण के विरोध में कुछ भी नहीं लिखा। इसी प्रकार विक्रम की अष्टम शती के आचार्य अकलंकदेव ने अपने 'सिद्धिविनिश्चय' 'न्यायविनिश्चय' आदि ग्रंथों में छोटी–छोटी बातों की चर्चा की है, परन्तु स्त्री निर्वाण के सम्बन्ध में कुछ भी नहीं लिखा। दशवीं शती के यापनीय आचार्य की कृति 'केवलिभुक्ति–स्त्रीमुक्ति' नामक ग्रंथ में केवली के कवलाहार और स्त्री के निर्वाण का समर्थन किया है और इस समय के बाद के बने हुए दिगम्बर सम्प्रदाय के प्रत्येक न्याय के ग्रंथ में स्त्री–निर्वाण का खण्डन किया गया है। इससे प्रमाणित होता है कि स्त्री–निर्वाण न मानने वालों में अग्रगामी दशवीं–ग्यारहवीं शती के दिगम्बर आचार्य थे।

मूलसंघ एवं माथुर संघ : एक विमर्श

जैन विद्या के विद्वानों एवं शोधकर्त्ताओं की यह स्पष्ट अवधारणा है कि मूलसंघ और माथुरसंघ का सम्बन्ध जैनधर्म की दिगम्बर परम्परा से ही है, क्योंकि जैन अभिलेखों एवं साहित्यिक स्रोतों में मूलसंघ एवं माथुरसंघ के उल्लेख सामान्यतया दिगम्बर परम्परा के साथ ही पाये जाते हैं। मथुरा (कंकाली टीला) से प्राप्त वर्तमान में लखनउ म्युझीयम में बिराजमान दसवीं ग्यारहवीं शताब्दी की पद्मासन मुद्रा में लगभग 5 फीट ऊँची विशालकाय लेखयुक्त तीन जिन प्रतिमायें देखी, तो उसे एक सुखद आश्चर्य हुआ। क्योंकि इन तीन प्रतिमाओं पर श्वेताम्बर मूलसंघ और श्वेताम्बर माथुरसंघ के उल्लेख पाये जाते हैं जो कि अत्यन्त विरल है।

सर्वप्रथम लखनऊ म्यूजियम के उस रिकार्ड को देखा गया जिसमें इन मूर्तियों का विवरण था। यह रिकार्ड जीर्ण-शीर्ण एवं टंकित रूप में उपलब्ध है। रिकार्ड को देखने पर ज्ञात हुआ कि उसमें J 143 क्रम की पार्श्वनाथ की प्रतिमा के विवरण के साथ-साथ अभिलेख की वाचना भी रोमन अक्षरों में दी गई है जिसका देवनागरी रूपान्तरण इस प्रकार है-

संवत् 1036 कार्तिकशुक्लाएकादश्यां
श्रीश्वेतामबरमूलसंघेन पश्चिम चतु(श्थी),
कयं श्रीदेवनिर्मिता प्रतिमा प्रतिस्थापिता।

दूसरी J 144 क्रम की प्रतिमा के नीचे जो अभिलेख है उसका वाचन इस प्रकार दिया गया है-

श्वेताम्बर.... माथुर.... देवनिम्मिता.... प्रतिस्थापिता।

तीसरी J 145 क्रम की मूर्ति पर जो अभिलेख अंकित है उसकी वाचना निम्नानुसार है-

संवत् 1134 श्रीश्वेताम्बर श्रीमाथुरसंघ
श्रीदेवतेति
विनिर्मिताप्रतिमाकृत

इस प्रकार हम देखते हैं कि इन तीनों अभिलेखों में से एक अभिलेख में श्वेताम्बर मूलसंघ और दो अभिलेखों में श्वेताम्बर माथुरसंघ का उल्लेख है। वी. ए. स्मिथ ने अपनी कृति 'दि जैन स्तूप एण्ड अदर एण्टीक्यूटीज आफ मथुरा' में इनमें

से दो लेखयुक्त मूर्तियों को प्रकाशित किया है। साथ ही यह भी उल्लेख किया है कि फ्यूरर के अनुसार ये दोनों मूर्तियाँ मथुरा के श्वेताम्बर संघ की समर्पित थी।

स्व. प्रो. के.डी. बाजपेयी ने भी 'जैन श्रमण परम्परा' नामक अफने लेख में, जो कुन्दकुन्द ज्ञानपीठ, इन्दौर से प्रकाशित 'अर्हत् वचन' पत्रिका के जनवरी 1992 के अंक में प्रकाशित हुआ है, इनमें से दो अभिलेखों का उल्लेख किया है। इनके अनुसार J 143 क्रम की प्रतिमा के अभिलेख की वाचना इस प्रकार है-

''संवत् 1038 कार्तिक शुक्ल एकादश्यां
श्री श्वेताम्बर (माथुर) संघेन पश्चिम...
कार्या श्री देवनिर्म्मित प्रतिमा प्रतिष्ठापिता।''

इसी प्रकार J 145 क्रम की प्रतिमा के अभिलेख की उनकी वाचना निम्नानुसार है-

''संवत् 1134 श्री श्वेताम्बर श्री माथुर संघ--
श्री देवनिर्मित प्रतिमा कारितेति।''

प्रो. बाजपेयी की J 143 क्रम की प्रतिमा की वाचना फ्यूरर की वाचना से क्वचित् भिन्न है, प्रथम तो उन्होंने संवत् को 1036 के स्थान पर 1038 पढ़ा है दूसरे मूलसंघेन को (माथुर) संघेन के रूप में पढ़ा है। यद्यपि उपर्युक्त दोनों वाचनाओं 'श्वेताम्बर' एवं 'माथुरसंघ' के सम्बन्ध में वाचना की दृष्टि से किसी प्रकार का कोई मतभेद नहीं है। मूलसंघेन पाठ के सम्बन्ध में थोड़े गम्भीर अध्ययन की अपेक्षा है। सर्वप्रथम हम इसी सम्बन्ध में विस्तार से चर्चा करेंगे।

जब मैंने J 143 क्रमांक की मूर्ति के लेख को स्वयं देखा तो यह पाया कि उसमें उत्कीर्ण श्वेताम्बर शब्द बहुत ही स्पष्ट है और अन्य दो प्रतिमाओं में भी श्वेताम्बर शब्द की उपस्थिति होने से उसके वाचन में कोई भ्रान्ति की संभावना नहीं है। 'मूल' शब्द के पश्चात् का संघेन शब्द भी स्पष्ट रूप से पढ़ने में आता है किन्तु मध्य का वह शब्द जिसे फ्यूरर ने 'मूल' और प्रो. बाजपेयी ने 'माथुर' पढ़ा है, स्पष्ट नहीं है। जो अभिलेख की प्रतिलिपि मुझे प्राप्त है और जो स्मिथ के ग्रंथ में प्रकाशित है उसमें प्रथम 'म' तो स्पष्ट है किन्तु दूसरा अक्षर सपष्ट नहीं है, उसे 'ल' 'लु' और 'थु' इन तीनों रूपों में पढ़ा जा सकता है। उसे 'मूल' मानने में कठिनाई यह है कि 'म' के साथ 'ऊ की मात्रा' स्पष्ट नहीं है। यदि हम उसे 'माथुर' पढ़ते हैं तो 'म' में आ की मात्रा और र का अभाव पाते हैं। सामान्यतया अभिलेखों में

कभी-कभी मात्राओं को उत्कीर्ण करने में असावधानियाँ हो जाती हैं। यदी कारण रहा है कि मात्रा की सम्भावना मानकर जहाँ फ्यूरर के वाचन के आधार पर लखनऊ म्यूजियम के उपलक्ष्य रिकार्ड में 'मूल' माना गया है। वहीं प्रो. बाजपेयी ने 'ऊ की मात्रा' के अभाव के कारण इसे 'मूल' पढ़ने में कठिनाई का अनुभव किया और अन्य प्रतिमाओं में 'माथुर' शब्द की उपस्थिति के आधार पर अपनी वाचना में 'माथुर' शब्द को कोष्ठकान्तर्गत रखकर माथुर पाठ की संभावना को सूचित किया। यह सत्य है कि इस प्रतिमा के लगभग 100 वर्ष पश्चात् की दो प्रतिमाओं में माथुर शब्द का स्पष्ट उल्लेख होने से उनका झुकाव माथुर शब्द की ओर हुआ है किन्तु मुझे जितनी आपत्ति 'मूल पाठ' को मानने में है उससे अधिक आपत्ति उनके 'माथुर' पाठ को मानने में है क्योंकि 'मूल पाठ' मानने में तो केवल 'ऊ' की मात्रा का अभाव प्रतीत होता है जबकि माथुर पाठ मानने में 'आ' की मात्रा के अभाव के साथ-साथ 'र' का भी अभाव खटकता है।

J 143 क्रम की प्रतिमा लखनऊ म्यूजियम के प्रवेश द्वार से संलग्न प्रकोष्ठ के मध्य में प्रदर्शित है। इसकी ऊँचाई लगभग 5 फीट है। J 143 क्रम की प्रतिमा के अभिलेख के 'मूल' और 'माथुर' शब्द के वाचन के इस विवाद को छोड़कर तीनों प्रतिमाओं के अभिलेखों के वाचन में किसी भ्रांति की संभावना नहीं है। उन सभी प्रतिमाओं में श्वेताम्बर शब्द स्पष्ट है। माथुर शब्द भी अन्य प्रतिमाओं पर स्पष्ट ही है, फिर भी यहाँ इस सम्बन्ध में उठने वाली अन्य शंकाओं पर विचारकर लेना अनुपयुक्त नहीं होगा। यह शंका हो सकती है कि इनमें कहीं श्वेताम्बर शब्द को बाद में तो उत्कीर्ण नहीं किया गया है? किन्तु यह संभावना निम्न आधारों पर निरस्त हो जाती है-

1. ये तीनों ही प्रतिमाएँ मथुरा के उत्खनन के पश्चात् से शासनाधीन रही है अतः उनके लेखों में परवर्ती काल में किसी परम्परा द्वारा परिवर्तन की संभावना स्वतः ही निरस्त हो जाती है। पुनः 'श्वेताम्बर' मूल संघ और माथुर संघ तीनों ही शब्द अभिलेखों के मध्य में होने से उनके परवर्तीकाल में उत्कीर्ण किये जाने की आशंका भी समाप्त हो जाती है।
2. प्रतिमाओं की रचनाशैली और अभिलेखों की लिपि एक ही काल की है। यदि लेख परवर्ती होने तो उनकी लिपि में स्वाभाविक रूप से अन्तर आ जाता।

3. इन प्रतिमाओं के श्वेताम्बर होने की पुष्टि इस आधार पर भी हो जाती है कि प्रतिमा क्रम J 143 के नीचे पादपीठ पर दो मुनियों का अंकन है, उनके पास मोरपिच्छी के स्थान पर श्वे. परम्परा में प्रचलित ऊन से निर्मित रजोहरण प्रदर्शित है।

4. उत्खनन से यह भी सिद्ध हो चुका है कि मथुरा के स्तूप के पास ही श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों राजाओं के अलग मंदिर थे। जहाँ दिगम्बर परम्परा का मंदिर पश्चिम की ओर था, वहाँ श्वेताम्बर मंदिर स्तूप के निकट ही था।

5. इन तीनों प्रतिमाओं के श्वे. होने का एक आधार यह है कि तीनों ही प्रतिमाओं में श्री देवनिर्मित शब्द का प्रयोग हुआ है। श्वेताम्बर साहित्यिक स्रोतों से यह स्पष्ट हो जाता है कि उसमें मथुरा के स्तूप को देवनिर्मित मानने की परम्परा थी। सातवीं शताब्दी से लेकर तेरहवीं शताब्दी तक के अनेक श्वेताम्बर ग्रंथों में इस स्तूप को देवनिर्मित कहा गया है[1]। प्रो. के. डी. बाजपेयी ने जो यह कल्पना की है कि इन मूर्तियों को श्री देवनिर्मित कहने का अभिप्राय श्री देव (जिन) के सम्मान में इन मूर्तियों का निर्मित होना है– वह भ्रांत है[2]। उन्हें देवनिर्मित स्तूप स्थल पर प्रतिष्ठित करने के कारण देवनिर्मित कहा गया है।

श्वे. साहित्यिक स्रोतों से यह भी सिद्ध होता है कि आ. जिनभद्रसूरि , हरिभद्र सूरि, बप्पभट्टि, वीरसूरि आदि श्वेताम्बर मुनि मथुरा आये थे। हरिभद्र सूरि ने यहाँ महानिशीथ आदि ग्रंथों के पुनर्लेखन का कार्य तथा यहाँ के स्तूप और मंदिरों के जीर्णोद्धार के कार्य करवाये थे। 9वीं शती में बप्पभट्टिसूरि के द्वारा मथुरा के स्तूप एवं मंदिरों के पुनर्निर्माण के उल्लेख सुस्पष्ट है[3]। इस आधार पर मथुरा में श्वे. संघ एवं श्वे. मंदिर की उपस्थिति निर्विवाद रूप से सिद्ध हो जाती है।

---

1. अ) सं. प्रो. ढाकी, प्रो. सागरमल जैन, ऐस्पेक्ट्स आव जैनालाजी, खण्ड-2 (पं. बेचरदास स्मृति ग्रंथ) हिन्दी विभाग, जैनसाहित्य में स्तूप-प्रो. सागरमल, पृ. 137-8।
   ब) विविधतीर्थकल्प-जिनप्रभसूरि, मथुरापुरी कल्प।
2. अर्हत् वचन, वर्ष 4, अंक 1, जनवरी 92, पृ. 10।
3. अ) विविधतीर्थकल्प-जिनप्रभसूरि, मथुरापुरी कल्प।
   ब) प्रभावचरित, प्रभाचन्द्र, सिंधी जैन ग्रंथमाला, पृ. सं. 13, कलकत्ता, प्र. सं. 1940, पृ. 88-111।

अब मूल प्रश्न यह है कि क्या श्वेताम्बरों में कोई मूलसंघ और माथुर संघ था और यदि था तो वह कब, क्यों और किस परिस्थिति में अस्तित्व में आया?

मूलसंघ और श्वेताम्बर परम्परा

मथुरा के प्रतिमा क्रमांक J 143 के अभिलेख के फ्यूरर के वाचन के अतिरिक्त अभी तक कोई भी ऐसा अभिलेखीय एवं साहित्यक प्रमाण उपलब्ध नहीं है जिसके आधार पर यह सिद्ध किजा जा सके कि श्वेताम्बर परम्परा में कभी मूल संघ का अस्तित्व रहा है। जैसा कि हम पूर्व में सूचित कर चुके हैं इस अभिलेख वाचन के सम्बन्ध में भी दो मत है– फ्यूरर आदि कुछ विद्वानों ने उसे 'श्री श्वेताम्बर मूलसंघेन' पढा है, जबकि प्रो. के.डी. बाजपेयी ने इसके 'श्री श्वेताम्बर (माथुर) संघेन' होने की सम्भावना व्यक्त की है।

द्राविडान्वय (द्रविड संघ), जिसे इन्द्रनन्दी ने जैनाभास कहा था, भी अड्गडि के सन् 1040 के अभिलेख में अपने को मूलसंघ से जोड़ती है[1]।

यही स्थिति यापनीय सम्प्रदाय के गणों की भी है, वे भी ग्यारहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध से अपने नाम के साथ मूलसंघ शब्द का प्रयोग करने लगे। यापनीय पुन्नागवृक्ष मूलगण के सन् 1108 के अभिलेख में '... श्रीमूलसंघद पो (पु)न्नाग वृक्षमूल गणद...' ऐसा उल्लेख है[2]। इसी प्रकार यापनीय संघ के काणूर गण के ई. सन् 1074 के बन्दलिके के तथा ई. सन् 1075 के कुप्पटूर के अभिलेख में 'श्री मूलसंघान्वय क्राणूरगण' ऐसा उल्लेख है[3]। इस सब से भी यही फलित होता है कि इस काल में यापनीय भी अपने को मूलसंघीय कहने लगे थे।

यापनीय गणों के साथ मूलसंघ के इन उल्लेखों को देखकर डॉ. गुलाबचन्द्र चौधरी आदि दिगम्बर विद्वान यह कल्पना कर बैठे कि ये गण यापनीय संघ से अलग होकर मूलसंघ द्वारा आत्मसात कर लिये गये थे[4]। किन्तु उनकी यह अवधारणा समुचित नहीं है क्योंकि इन अभिलेखों के समकालीन और परवर्ती अनेकों ऐसे अभिलेख हैं जिनमें इन गणों का यापनीय संघ के गण के रूप में स्पष्ट उल्लेख है। सत्य तो यह है कि जब कुन्दकुन्दान्वय ने मूलसंघ के साथ अपना

1. जैनशिलालेख संग्रह भाग 2, लेखक्रमांक 178।
2. जैनशिलालेख संग्रह भाग 2, लेखक्रमांक 250।
3. जैनशिलालेख संग्रह भाग 2, लेखक्रमांक 207।
4. जैनशिलालेख संग्रह भाग 4, भूमिका, पृ. 26 व 32।

सम्बन्ध जोड़कर अन्य संघों को जैनाभास और मिथ्यात्वी घोषित किया, (इन्द्रनन्दिकृत श्रुतावतार से इस तथ्य की पुष्टि होती है) तो प्रतिक्रिया स्वरूप दूसरों ने भी अपने को मूलसंघी कहना प्रारम्भ कर दिया। ग्यारहवीं शती के उत्तरार्ध में अचेल परम्परा के यापनीय, द्राविड आदि अनेक संघ अपने साथ मूलसंघ का उल्लेख करने लगे थे। जबकि इन्द्रनन्दि ने इन सभी को जैनाभास कहा था।

इसका तात्पर्य यही है कि ग्यारवीं शताब्दी में अपने को मूलसंघी कहने की एक होड़ लगी हुई थी। यदि इस तथ्यों के प्रकाश में हम मथुरा के उक्त श्वेताम्बर मूलसंघ का उल्लेख करने वाले अभिलेख पर विचार करें तो यह पाते हैं कि उक्त अभिलेख भी अचेल परम्परा के विविध सम्प्रदायों के साथ मूलसंघ का उल्लेख होने के लगभग 60 वर्ष पूर्व का है अर्थात् उसीकाल का है। अतः सम्भव है कि उस युग के विविध अचेल परम्पराओं के समान ही सचेलपरम्परा भी अपने मूलसंघ से जोड़ती हो।

मूलसंघ प्रारम्भ में किस परम्परा से सम्बद्ध था और कब दूसरी परम्पराओं ने उससे अपना सम्बन्ध जोड़ना प्रारम्भ किया–इसे समझने के लिये हमें सर्वप्रथम मूलसंघ के इतिहास को जानना होगा। सर्वप्रथम हमें दक्षिण भारत में नोणमंगल की ताम्रपट्टिकाओं पर 'मूलसंघानुष्ठिताय' एवं 'मूलसंघेनानुष्ठिताय' ऐसे उल्लेख मिलते हैं[1]। ये दोनों ताम्रपट्टिकायें क्रमशः लगभग ईस्वी सन् 370 और ई. सन् 425 की मानी जाती है। किन्तु इनमें निर्ग्रन्थ, कूर्चक, यापनीय या श्वेतपट आदि के नामों का उल्लेख नहीं होने से प्रथम दृष्टि में यह कह पाना कठिन है कि इस मूलसंघ का सम्बन्ध उनमें से किस धारा से था। दक्षिण भारत के देवगिरि और हल्सी के अभिलेखों के अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि ईसा की पाँचवी शती के उत्तरार्ध में दक्षिण भारत में निर्ग्रन्थ, यापनीय, कूर्चक और श्वेतपट महाश्रमण संघ का अस्तित्व था। किन्तु मूलसंघ का उल्लेख तो हमें ईसा की चतुर्थशती के उत्तरार्ध में मिल जाता है अतः अभिलेखीय आधार पर मूलसंघ का अस्तित्व यापनीय, कूर्चक आदि नामों के पूर्व का है। मुझे ऐसा लगता है कि दक्षिण में इनमें से निर्ग्रन्थ संघ प्राचीन है और यापनीय, कुर्चक, श्वेतपट आदि संघ परवर्ती है फिर भी मेरी दृष्टि में निर्ग्रन्थ संघ मूलसंघ नहीं कहा जा सकता है। दक्षिण भारत का यह निग्रन्थ महाश्रण संघ भद्रबाहु (प्रथम) की परम्परा के उन अचेल श्रमणों का संघ था, जो ईसा पूर्व तीसरी शती में बिहार से उड़ीसा के रास्ते लंका और तमिल प्रदेश में पहुचे

1. जैनशिलालेख सं. भाग 2, लेखक्रमांक 90 व 94।

थे। उस समय उत्तर भारत में जैन संघ इसी नाम से जाना जाता था और उसमें गण, शाखा आदि का विभाजन नहीं हुआ था अतः ये श्रमण भी अपने को इसी 'निर्ग्रन्थ' नाम से अभिहित करते रहे। पुनः उन्हें अपने को मूलसंधी कहने की कोई आवश्यकता भी नहीं थी क्योंकि वहाँ तब उनका कोई प्रतिद्वन्द्वी भी नहीं था। यह निर्ग्रंथसंघ यापनीय, कूर्चक और श्वेतपट्ट संघ से पृथक् था यह तथ्य भी हल्सी और देवगिरि के अभिलखों से सिद्ध है क्योंकि इनमें उसे इनसे पृथक् दिखलाया गया है और तब तक इसका निर्ग्रन्थ संघ नाम सुप्रचलित था। पुनः जब लगभग 100 वर्ष के पश्चात् के अभिलेखों में भी यह निर्ग्रन्थसंघ के नाम से ही सुप्रासिद्ध है तो पूर्व में यह अपने को 'मूलसंघ' कहना होगा यह कल्पना निराधार है।

अपने को मूलसंघ कहने की आवश्यकता उसी परम्परा को हो सकती है– जिसमें कोई विभाजन हुआ हो, जो दूसरे को निर्मूल या निराधार बताना चाहती हो; यह बात पं. नाथुराम जी प्रेमी ने भी स्वीकार की है। यह विभाजन की घटना उत्तर भारत में यह घटित हुई जब उत्तर भारत का निर्ग्रन्थ संघ अचेल और सचेल धारा में विभक्त हुआ। साथ ही उसकी अचेल धारा को अपने लिये एक नये नाम की आवश्यकता प्रतीत हुई। उस समय तक उत्तर भारत का निर्ग्रन्थ संघ अनेक गणों, शाखाओं और कुलों में विभक्त था– यह तथ्य मथुरा के अनेक अभिलेखों से और कल्पसूत्र की स्थविरावली से सिद्ध है। अतः सम्भावना यही है कि उत्तर भारत की इस अचेल धारा ने अपनी पहचान के लिये 'मूलगण' नाम चुना हो, क्योंकि इस धारा को बोटिक और यापनीय--ये दोनों ही नाम दूसरों के द्वारा ही दिये गये हैं, जहाँ श्वेताम्बरों अर्थात् उत्तर भारत की सचेल धारा ने उन्हें बोटिक कहा, वहीं दिगम्बरों अर्थात् दक्षिण भारत की निर्ग्रन्थ अचेल धारा ने उन्हें यापनीय कहा।

इतना निश्चित है कि मूलसंघ के साथ कुन्दकुन्दावय सम्बन्ध भी परवर्ती काल में जुड़ा है कुन्दकुन्दावय का सर्व प्रथम अभिलेखीय उल्लेख ई. सन् 797 और 802 में मिलता है[1] किन्तु इन दोनों लेखों में पुस्तकगच्छ और मूलसंघ का उल्लेख नहीं है। आश्चर्य है कि साहित्यिक स्रोतों में तो दसवीं शती के पूर्व मूलसंघ और कुन्दकुन्दान्वय का कहीं कोई उल्लेख नहीं है। वस्तुतः कुन्दकुन्द शुद्ध आचार के प्रतिपादक एवं प्रभावशाली आचार्य थे और मूलसंघ महावीर की प्राचीन मूलधारा का सूचक था, अतः परवर्तीकाल में सभी अचेल परम्पराओं ने उससे

1. 122 एवं 123 (पन्ने के ताम्रपत्र)

अपना सम्बन्ध जोड़ना उचित समझा। मात्र उत्तर भारत का काष्ठासंघ और उसका माथुरगच्छ ऐसा था जिसने अपने को मूलसंघ एवं कुन्दकुन्दान्वय से जोड़ने का कभी प्रयास नहीं किया। इसका एक कारण यह भी हो सकता है कि काष्ठासंघ मुख्यतः उत्तर भारत से सम्बद्ध था और इस क्षेत्र में 12-13वीं शती तक कुन्द-कुन्दान्वय का प्रभाव अधिक नहीं था। वस्तुतः मूलसंघ मात्र एक नाम था, जिसका उपयोग 9-10वीं शती से दक्षिण भारत की अचेल परम्परा की सभी शाखायें करने लगी थी। शायद उत्तर भारत की सचेल परम्परा भी अपनी मौलिकता सूचित करने हेतु इस विरुद का प्रयोग करने लगी हो।

माथुरसंघ

माथुरसंघ भी मुख्यतः दिगम्बर परम्परा का ही संघ है। मथुरा से प्राप्त पूर्व में उल्लेखित तीन अभिलेखों को छोड़कर अन्यत्र कहीं भी श्वे. माथुर संघ का उल्लेख नहीं मिलता है, लेकिन उपरोक्त तीनों अभिलेखों के आधार पर हम मानने के लिए विवश है कि ग्यारहवीं-बारहवीं शताब्दी में श्वे. माथुरसंघ का अस्तित्व था। यद्यपि यह बात भिन्न है कि यह माथुरसंघ श्वेताम्बर मुनियों का कोई संगठन न होकर मथुरा के श्वेताम्बर श्रावकों का एक संगठन था और यही कारण है कि श्वे. माथुर संघ के अभिलेख मथुरा से अन्यत्र कहीं भी उपलब्ध नहीं हुए। यदि श्वेताम्बर माथुर संघ मुनियों का कोई संघठन होता तो इसका उल्लेख मथुरा से अन्यत्र अभिलेखों और साहित्यिक स्रोतों से मिलना चाहिये था। पुनः इन तीनों अभिलेखों में मुनि और आचार्य के नामों के उल्लेख का अभाव यही सूचित करता है कि यह संघ श्रावकों का संघ था।

जहाँ तक दिगम्बर परम्परा का प्रश्न है उसमें माथुरसंघ नामक एक मुनि संघ था और उसकी उत्पत्ति विक्रम संवत् 953 में आचार्य रामसेन से मानी जाती है1। माथुरसंघ का साहित्यिक उल्लेख इन्द्रनंदी के श्रुतावतार और देवसेन के दर्शनसार में मिलता है। इन्द्रनन्दी ने इस संघ की गणना जैनाभासों में की है और निष्पिच्छिक के रूप में इसका उल्लेख किया है। देवसेन ने भी दर्शनसार में इसे निष्पिच्छिक बताया है। यद्यपि इसकी उत्पत्ति विक्रम सं. 953 में बताई गई है किन्तु उसका सर्वप्रथम साहित्यिक उल्लेख अमितगति के सुभाषितरत्नसंदोह में मिलता है जो कि मुंज के शासन काल में (विक्रम 1050) में लिखा गया। सुभाषितरत्न संदोह के अतिरिक्त वर्धमाननीति, धर्मपरीक्षा, पंचसंग्रह, तत्त्वभावना उपासकाचार आदि भी

इनकी कृतियाँ हैं। अभिलेखीय स्रोतों की दृष्टि से इस संघ का सर्व प्रथम उल्लेख विक्रम सं. 1166 में अथुर्ना के अभिलेख में मिलता है। दूसरा अभिलेखीय उल्लेख 1226 के बिजोलिया के मंदिर का है, इसके बाद के अनेक अभिलेख इस संघ के मिलते हैं। ज्ञातव्य है कि अपनी उत्पत्ति के कुछ ही वर्ष बाद यह संघ काष्ठासंघ का एक अंग बन गया और परवर्ती उल्लेख काष्ठासंघ की एक शाखा माथुरगच्छ के रूप में मिलते हैं।

यदि हम काल की दृष्टि से विचार करें तो यह पाते हैं कि श्वे. माथुरसंघ और दिगम्बर माथुरसंघ की उत्पत्ति लगभग समकालीन है क्योंकि श्वे. माथुरसंघ के उल्लेख भी 11-12वीं शताब्दी में ही मिलते हैं। यद्यपि श्वेताम्बर परम्परा में खरतर, तपा, अंचल आदि महत्त्वपूर्ण गच्छों का उद्भव काल भी यही है, फिर भी इन गच्छों में माथुरा संघ का स्पष्ट अभाव होने से हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि माथुर संघ श्वे. जैन मुनियों का संगठन न होकर मथुरा निवासी श्वे. श्रावकों का एक संगठन था। आश्चर्य यह भी है कि इन अभिलेखों में श्वे. माथुरसंघ का उल्लेख होते हुए भी कहीं किसी मुनि या आचार्य का नामोल्लेख नहीं है। इस आधार पर हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि श्वे. माथुरसंघ मथुरा के श्रावकों का ही एक संगठन था। श्वेताम्बरों में आज भी नगर के नाम के साथ संघ शब्द जोड़कर उस नगर के श्रावकों को उसमें समाहित किया जाता है। अतः निष्कर्ष यही है कि श्वे. माथुरसंघ मथुरा के श्रावकों का संघ था और उसका मुनि परम्परा अथवा उनके गच्छों से कोई सम्बन्ध नहीं था।

मूल संघ, माथुर संघ द्वारा प्रतिष्ठित् कई प्राचीन प्रतिमाएँ आज भी प्राप्त होती है। प्रस्तुत प्रतिमाएँ श्वेताम्बर आम्नाय की भी मिलती है। अमीझरा पार्श्वनाथ (एम.पी.), मथुरा, उज्जैन, पार्श्व-मणितिर्थ(पेदमिरम्) कुलपाकजी, हमारे संग्रह की कुछ प्रतिमाओं से इस बात की पुष्टि होती है कि श्वेताम्बर मूलसंघ एवं माथुर संघ विद्यमान था, लेकिन उक्त संघों का उल्लेख किसी भी ग्रंथ, पट्टावली, परंपरा में देखने को नहीं मिलता... फिर भी मूलसंघ एवं माथुर संघ की बात एतिहासिक है।

स्त्रीमुक्ति, अन्य तैर्थिक मुक्ति, सवस्त्र मुक्ति के दिगम्बर शास्त्रपाठ

आजीवक, त्रैराशिक, अबद्धिक तथा बोटिक मुनियों ने स्वतंत्र इकाई की रचना करके वीर सं. 609 से दिगंबर मत स्थापित किया और तब से जैन संघ श्वेताम्बर तथा दिगम्बर इन दो भागों में विभक्त हो गया है। यद्यपि ऐसा विभाजन न हो इस हेतु तत्कालीन आचार्यों ने भरसक-अथाह प्रयत्न किये हैं, अन्य प्रकार से भी प्रयत्न किये गये हैं, परन्तु कोई सफलता नहीं मिली है और जो दो विभाग हो गये हैं, वे वर्तमान समय भी विद्यमान हैं।

दिगम्बर मत चार वर्ग मुनियों का संमिलित रूप है अतः उसमें चारों वर्गों की मान्यताओं को भी स्थान दिया गया है जो विकल्प के रूप में है। उदाहरण के लिए-

अ) आजीवक मत में स्वीकार्य बातें- 1) शीतोदक ग्रहण, 2) सचित्त स्पर्शयुक्त भोजन ग्रहण, 3) नग्नता तथा 4) स्त्री स्पर्श ! ये बातें दिगम्बर मुनियों में भी देखी जाती हैं।

ब) दिगंबरों में छः आवश्यक में पच्चकखण प्रत्याख्यान के स्थान पर कृतिकर्म तथा स्वाध्याय को स्थान दिया गया है, जो अबद्धिक मत से लिया गया है। उसी प्रकार 'पुणिया श्रावक कथाकोष' के कर्ता पद्मानंदी स्वयं त्रिराशिक मत के अनुयायी हैं ऐसी स्पष्टता करते हैं। अर्थात् त्रिराशिक मत दिगम्बर मत में सम्मिलित हो गया है। (प्रशस्ति श्लोक 4)

आरंभ में दिगम्बरों ने 12 अंग - 1 से 6 आवश्यक, 7 दशवैकालिक, 8. उत्तराध्ययन, 9. कल्पव्यवहार, 10. कल्पाकल्प, 11. महाकल्प, 12. पुंडरीक, 13. महापुण्डरीक तथा 14 निशीथ सूत्र का आगम के रूप में स्वीकार किया है। इन ग्रंथों पर विचरण ग्रंथों की रचना भी की है। विक्रम की नववीं शताब्दि में आचार्य अपराजितसूरिजी द्वारा रचित 'विजयोदया' टीका में स्वरचित 'दशवैकालिक सूत्र' की विजया टीका का उल्लेख तथा आचारांग, सूत्रकृतांग भाष्य, 'दशवैकालिक, उत्तराध्ययन तथा बृहत्कल्पसूत्र' के साक्षी पाठ प्राप्त होते हैं। संभव है कि दिगंबर मत में जयधवला के रचनाकाल तक उपरोक्त आगमों का आप्त आगम के रूप में स्थान था।

मुनि शिवभूतिजी के अन्य नाम शिवगुप्त, शिवदत्त, भूतपति तथा भूतबलि हैं। उन्होंने गिरनार निवासी अग्रायणी पूर्व की पाँचवी वस्तु के चतुर्थ महाप्रामृत के ज्ञाता आचार्य धरसेनसूरि के पास श्रुतज्ञान का अध्ययन किया। लंबा विहार करके वे द्रविड़ मथुरा पहुँचे और वहाँ उन्होंने जीवस्थान, क्षुल्लकबंध, बंध स्वामित्व, भावखण्ड वेदनाखंड तथा महाबंध ऐसे छः खण्ड (षट्खण्ड) शास्त्र की रचना की। तत्पश्चात् श्रीसंघ को एकत्रित करके ज्येष्ठ शुक्ला पंचमी के दिन उसे ग्रंथस्थ किया। इस ग्रंथ पर लघु एवं बृहद् अनेक टीकाएं लिखी गई हैं। अंत में आचार्य वीरसेन ने विक्रम की नववीं शताब्दि के पूर्वार्ध में छः खंड आगम पर संस्कृत-प्राकृत में 72000 श्लोक प्रमाण धवला तथा पाँचवे पूर्व के धारक श्वेतांबर आचार्य गुणधरस्वामी के कषाय प्राभृत-दोषप्राभृत मूलगाथा 183 के विवरण पर 20000 श्लोक प्रमाण जयधवला की रचना की है। उन्हों के शिष्य आचार्य जयसेन ने जयधवला में 40000 श्लोक प्रमाण पूर्ति जोड़कर दिगम्बरों के लिए महान धवलशास्त्र तैयार किया है।

आचार्य कोडिन्न : आ. कोडिन्न मुक्त कुंडपुर के निवासी थे इसलिए वे कोडिन्य कहलाते हैं। उनके संस्कृत नाम कौंडकौंडिन्य, कौडकन्य तथा कुंदकुंद है। उनके अन्य नाम पद्मनंदि, एलाचार्य, वक्रग्रीव तथा गृद्धपिच्छ हैं। दिगम्बर इतिहास उनकी गुरुपरंपरा के विषय में अकमत नहीं है परंतु दिव्यज्ञान से उन्होंने नूतन मार्ग प्रकाशित किया था इस विषय में दिगम्बर इतिहास में एकमत है।

(दर्शनसार-गाथा 43)

श्रीकुंदकुंदाचार्य ने 'समयसार', 'षट्प्राभृत' आदि अनेक प्राभृत ग्रंथों की रचना की है। विक्रम की दशवीं शताब्दि में उनके ग्रंथों पर अनेक टीकाओं की रचना की गई है।

आचार्य कोट्टवीर - आचार्य कोट्टवीर के अन्य नाम कोटि तथा शिवकोटि आदि हैं। उन्होंने 'भगवती आराधना' की रचना की थी। इसमें आचारांग सूत्र, जीतकल्प, बृहत्कल्पभाष्य, व्यवहार तथा निर्युक्ति के अनेक साक्षीपाठ हैं। आचार्य शिवकोटिजी उपलब्ध जिनआगमों के प्रति अत्यंत निष्ठावान रहे हैं। 'भगवती आराधना' पर आचार्य अपराजित सूरिजी ने 'विजयोदया' टीका की रचना की है।

इसके अतिरिक्त वनवासी गच्छ के आद्याचार्य श्री समन्तभद्रसूरिजी उच्चानगर

शाखा के वाचक श्री उमास्वातिजी (उमास्वामिजी) तथा आचार्य सिद्धसेन दिवाकरजी आदि के ग्रंथों को भी दिगम्बर संघ ने प्रेमपूर्वक अपना लिया है और विकसित किया है।

विक्रम की नववीं शताब्दि के बाद तो दिगम्बर साहित्य का बहुत विकास हुआ है।

श्वेतांबर तथा दिगंबर संप्रदायों के बीच जो मतभेद है उसका मूल तो अंबर-वस्त्र है, जो उन दोनों नामों के पीछे जुड़कर अमर हो गया है। वस्तुतः आरंभ में दिगंबर संप्रदाय ने केवल इस बात पर ही अपना मतभेद प्रदर्शित किया था कि 'मुनि वस्त्र धारण न करें।'

इसके बाद स्त्री नग्न नहीं रह सकती और जो वह वस्त्र धारण करती है तो वह मुनिपद के लिए योग्य नहीं मानी जा सकती और उस नियमानुसार 'स्त्री के लिए चारित्र ग्रहण करना और मोक्ष प्राप्ति संभव नहीं' ऐसा घोषित कर दिया गया और इसके साथ-साथ वस्त्र के बिना पात्र नहीं हो सकते, पात्रों के बिना आहार लाया नहीं जा सकता और आहार लाया नहीं जा सकता इसी कारण तीर्थंकर भगवान आहार ग्रहण नहीं कर सकते। इन सारी समस्याओं का सरल निराकरण उन्होंने इस निर्णय की घोषणा के द्वारा दिया कि 'केवली भगवान के लिए आहार की आवश्यकता ही नहीं होती'।

इस प्रकार मुनि के पीछे स्त्रीमुक्ति तथा केवलीभुक्ति का मतभेद उपस्थित हुआ और एक झगड़ा विवाद सौ विवादों को बुलावा देता है' उस कहावत के अनुसार समय के साथ उसमें से अनेक मतभेदों ने जन्म लिया।

परन्तु समग्र दृष्टि से देखें तो दिगम्बर आचार्यों ने नग्नता की रक्षा हेतु वस्त्र, पात्र, उपकरण, उपधि, केवलि आहार, तीर्थंकरों के द्रव्य शरीर, द्रव्यवचन, द्रव्यमन, साक्षरीवाणी, शुद्रमुक्ति, गृहस्थमुक्ति, अन्यलिंगमुक्ति, स्त्रीदीक्षा, स्त्रीमुक्ति, मल्ली तीर्थंकरी, तीर्थंकर की पुत्री आदि अनेक घटनाओं का निषेध किया है और अपने शास्त्र में उसी किलेबंदी को अधिकतम दृढ़ किया है।

फिर भी न्याय की दृष्टि से सोचें तो इतना तो कहना ही चाहिए कि दिगम्बर विद्वानों ने अपनी विरोधी किन्तु सत्य बातों को कहीं-कहीं घोषित भी कर दिया है। अर्थात् दिगंबर संप्रदाय में निषिद्ध मुनिजनों की उपधि, केवलिभुक्ति तथा स्त्रीमुक्ति की पुष्टि करने वाले पाठ भी दिगम्बर शास्त्रों में हैं, जिनके कुछ उदाहरण

यहाँ दिये गये हैं :

दिगंबर ग्रंथों में भी मुनिउपधि वस्त्र तथा पात्र से संबंधित प्रमाण पाठः

अप्पडिकुट्ठं उवधिं अपत्थणिज्जं असंजदजणेहिं।
मुच्छादिजणणरहिदं गेण्हदु समणो यदि वि अप्पं।।2।।

आहारे व विहारे, देशं कालं समं खमां उपधिं।
जाणित्ता ते समणो, वट्टदि जदि अप्पलेवी सो।।30।।

आचार्य. कुन्दकुन्द प्रवचनसार

सेवहि चउवहलिंगं, अब्भितरलिंगसुद्धिमावण्णो।
बाहिर लिंगमकज्जं, होइ फुडं भावरहियाणं।।109।।

आ. कुन्दकुन्द - भावप्राभृत गाथा 109

ववहारओ पुण णओ, दोण्णि वि लिंगाणि भणदि मोक्खपहे।
णिच्छयणओ दु णिच्छदि, मोक्खपहे सव्वलिंगाणि।।

आचार्य कुन्दकुन्द - समय प्राभृत 444

पिंडं उवधिं सेज्जं; उग्गम उप्पाद णेसणादीहि।
चरित्तरक्खणट्ठं, सोधिंतो होइ सुचरितो।।293।।

भगवती आराधना गाथा 293, पृ. 144

पिंडोवधिसेज्झाओ, अविसोधिय जो य भूंजये समणो।
मूलट्ठाणं पत्तो, भुवणेसु हवे समणपोल्लो।।25।।

फासुगदाणं फासुगमुवधिं, तह दोवि अत्तसोधीए।
देदि जो य गिण्हदि, दोण्हंपि महप्फलं होइ ।।45।।

आ. वट्टकेर-मूलाचार परिच्छेद 10

'कम्बलदिकं गृहीत्वा न प्रक्षालन्ते''

तत्त्वार्थ-श्रुतसागरी टीका अध्याय 9 सूत्र 4

तपःपर्यायशरीरसहकारि भूतमन्नपानसंयमशौचज्ञानोपकरण-
तृणमयप्रावरणादिकं किमपि गृह्णाति, तथापि ममत्वं न करोति।

ब्रह्मदेवकृत परमात्म प्रकाश, गाथा 219, पृ. 232

'मृदुवस्त्रेण' कदाचित्तथा क्रियते निक्षेपणा नाम्नी पंचमी समितिर्भवति।।

चारित्रप्राभृत, गाथा 36, श्रुतसागरी

शय्यासनोपदानानि, शास्त्रोपकरणानि च।
पूर्वं सम्यक् समालोच्य, प्रतिलिख्य पुनः पुनः ।।12।।

आचार्य शुभचन्द्रकृत 'ज्ञानार्णव अ. 8

शय्योपध्यालोचनान्नवैयावृत्येषु पंचधा।
शुद्धिः स्यात् दृष्टिधीवृत्तविनयावश्यकेषु वा।।42।।
विवेकोऽक्षकषायां-ग-भक्तोपधिषु पंचधा।
स्यात् शय्योपधिकायान्नवैयावृत्यकरेषु वा।।217।।

पं. आशाधरकृत सागार धर्मामृत, अध्याय 8 सं. 1296

साक्षान्नग्नः स विज्ञेयो, दश नग्नाः प्रकर्तिताः ।।23।।

भट्टारक सोमसेनकृत 'त्रिवर्णाचार, अध्याय 3, सं. 1665

ममत्तिं परिवज्जामि, णिम्ममत्तिमुवदिट्ठो ।।57।।

भवो कारणभूदो सायाराऽणयारभूदाणं ।।66।।

णग्गो पावई दुक्खं, णग्गो संसारसायरे भमई।
णग्गो ण लहइ बोहीं जिणभावेण वज्जिओ सुइरं।।68।।

भावसहिदो मुणिणो, पावइ आराहणाचउक्कं च।
भावरहिदोय मुनिवर भमइ चिरं दीहसंसारे।।99।।

आ. कुंदकुन्दकृत ''भावप्राभृत'

लिङ्गं देहाश्रितं दृष्टं देह पवात्मनो भवः।
न मुच्यन्ते भवात् तस्यात् ते ये लिङ्गकृताग्रहाः।।87।।

जातिर्देहाश्रिता दृष्टा।।88।।

जातिर्लिंगविकल्पे, येषां च समयाग्रहः।।
ते न आप्नुवन्त्येव, परमं पदमात्मनः।।89।।

आ. पूज्यपादकृत 'समाधिशतक'

संघो को वि न तारइ, कट्ठो मूलो तहेव निपिच्छो।
अप्पा तारइ तम्हा, अप्पा चेव झायव्वो।।

आ. अमृतचंद्र कृत 'श्रावकाचार'

अयसाण भायणेण य, किं ते णग्गेण पावमलिणेण।
पेसुण्ण–हास–मच्छर–माया बहुलेण सवणेण ।।69।।

वनेऽपि दोषाः प्रभवन्ति रागिणां, गृहेऽपि पञ्चेन्द्रियनिग्रहस्तपः।
अनुत्सिते वर्त्मनि यः प्रवर्तते, विमुक्तरागस्य गृहं तपोवनम्।।

आ. कुन्दकुन्दकृत भावप्राभृत गाथा 69 की श्रुतसागरी टीका पृ. 213

धात्रिवाला–ऽसतीनाथ–पद्मिनीदलवारिवत्।
दग्धरज्जुवदाभासं भुञ्जन् राज्यं न पापभाक्।।

दिगंबर ग्रंथों में भी स्त्री दीक्षा, स्त्री मुक्ति तथा नपुंसकमुक्ति के प्रमाण पाठः

राजकुमारी मंत्री, अमात्य, पुरोहित तथा श्रेष्ठियों की पत्नियों की दीक्षा।

–वरांगचरित, सर्ग 30–31

ब्राह्मी, सुंदरी, सुभद्रा को दीक्षा, ब्राह्मी को गणिनीपद।

–आदि पुराण, फर्व 24, 47

जिनदत्त सेठ की पत्नी, सीता, पृथ्वीसुन्दरी, रानियाँ आदि की दीक्षा, भगवान श्री महावीर प्रभु की साध्वियाँ, आर्या चन्दनबाला, सुव्रता, गणिनी, आर्या गुणवती आर्या सर्वश्री।

–उत्तर पुराण– पर्व 68, 71, 74, 76

राजीमती, द्रौपदी, धनश्री, मित्रश्री, कुन्ती, द्रौपदी तथा सुभद्रा की दीक्षा, आर्या सुलोचना के द्वारा ग्यारह अंगों का अभ्यास, भगवान महावीर की साध्वी संख्या – हजारों की। –हरिवंशपुराण– पर्व 56, 63, 64,12,10,2

प्रियंगगुमंजरी, अंगनसेना वेश्या, ज्येष्ठ, देववती आदि की दीक्षा, आर्या हरिकांता (कथाग्रंथें)

संत्यज्य राज्यलक्ष्मीं, पतिपुत्रभ्रातृसम्बन्धम्।
परिव्राज्य वहाया किं, ममत्वं सत्यभामादेः।।32।।

क्षपकश्रेण्यारोहे, वेदेनोच्येत 'भूतपूर्वेण'।
स्त्रीति नितरां अभिमुख्येऽर्थे युज्यते नेतराम् ।।40।।

इत्यार्यिकासिद्धिः ।।43।।

–आ. शाकटायन का स्त्रीमुक्तिप्रकरण

थावरकायपहुंदी संढो, सेसा असण्णिआदि य।
अणियट्टियस्स य पढमो भागोति जिणेहिं णिदिट्ठं।।684)

मणुसिणी पमत्तविरदे, आहारदुगं तु णत्थि णियमेण।
अवगद्वेदे णणुसिणी सण्णा भूदगदिमासेज्ज।।714।।

–गोम्मटसार जीवकांड

वेए.।।33।।
वेए स्त्री पु. नपुंसक वेदत्रयमध्येऽर्हतः कोऽपि वेदो नास्ति।

–बोधप्राभृत– गाथा 33, श्रुतसागरी

मणुसिणीसु सासणसम्मइट्ठि (2) प्पहुडि जाव अजोगि।
केवलि (14) त्ति, दव्वपमाणेण केवडिया ? संखेज्जा।।

–सूत्र 49, पृ. 261

मणुसिणीसु मिच्छाइट्ठि–सासणसम्माइट्ठिट्ठाणे सिया एज्जत्तियाओ,
सिया अपज्जत्तियाओ ।।सूत्र 92।।

सम्मामिच्छाइट्ठिं–असंजदसम्माइट्ठिसंजदासंजद–
संजदट्ठाणे णियमा पज्जत्तियाओ।।सूत्र 93।।

–षट्खंडागम, धवला टीका, पृ. 1, पृ. 331, पृ. 332

वेदाणुवादेण, इत्थिवेदएसु पमत्तसंजदप्पहुडि जाव
अणियबादरसांपराइयपविट्ठ उवसमा खवा दव्वपमाणेण केवडिया?
संखेज्जा।।सूत्र 126।।

धवलाटीका–इत्थिवेदउवसामगा दस 10 खवगा वीस 20।

–पु. 3, पृ. 146

णपुंसयवेदेसु संखेज्जा।।सू. 130।।

धवलाटीका–उवसामगा पंच 5, खवगा दस 10 (पृ. 419)

धवलाटीका–इत्थिवेदे अपमत्तसंजता संखेज्जगुणा तम्हि चेव पमत्तसंजदा संखेज्जगुणा सजोगिकेवलि संखेज्जगुणा (सूत्र 134, पृ. 422)

–षट्खंडागम, धवला टीका, मुद्रित पुस्तक 3

अपमत्तस्य उक्कस्संतरं उचदे। तिण्णिअंतोमुहूत्तेहिं अब्भहिय अट्ठवस्सेहिं उणाओ अट्ठेदालीसपुव्वकोडिओ उक्कस्स अंतरं। पज्जत्तमणुसिणीसु एवं चेव। णवरि पज्जत्तेसु चउवीसपुव्वकोडिओ, मणुसिणीसु अट्ठपव्वकोडिओति वत्तव्वं। (पृ. 53)

इत्थीवेदेसु पमत्तस्स उच्वदे। अट्ठवस्सेहिं तिण्णिअंतोमुहूत्तेहिं ऊणिया त्थीवेदट्ठिदी लद्धमुक्कस्संतरं। एवमपमत्तस्स वि उक्कस्संतरं भाणिदव्वं, विसेसा भावा। (पृ. 96)

–षट्खंडागम–जीवस्थान अल्पबहुत्वानुगम–स्त्रीवेदी–अल्पबहुत्वप्ररूपणा–धवला टीका, मुद्रित पुस्तक–5

(8) अपूर्वकरण (9) अनिर्वृतिकरण गुणस्थान सुधीनी स्त्रीओनी संख्या, उपशमक स्त्रीओ, क्षपक स्त्रीओ। (सूत्र 144 थी 161, पृ. 300 थी 400)

–षट्खंडागम, धवला टीका, मुद्रित पुस्तक 5

दिगंबर ग्रंथों में शुद्रदीक्षा, शुद्र मुक्ति के पाठः

उत्तमधम्मेण जुत्तो होदि तिरक्खोवि उत्तमो देवो।
चंडालो वि सुरींदो, उत्तमधम्मेण संभवदि।।

– स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा गा. 430

न जातिगर्हिता काचित्, गुणाः कल्याणकारणम्।
व्रतस्थमपि चाण्डालं; तं देवा ब्राह्मणं विदुः।।
चातुर्वर्ण्यं यथा यच्च, चाण्डालादिविशेषणम्।
सर्वमाचारभेदेन, प्रसिद्धं भुवने गतम्।।

–आ. रविषेण रचित 'पद्मचरित्र'

विप्र–क्षत्रिय–विट्–शूद्राः, प्रोक्ताः क्रियाविशेषतः।

जैनधर्मे पराः शक्ताः ते सर्वे बान्धवोपमाः।।

–धर्मरसिककृत 'त्रिवर्णाचार'

दिगंबर ग्रंथों में केवलिमुक्ति, केवलितप और साक्षरी वाणी के पाठः

आद्यश्चतुर्दशदिनैर्विनिवृत्तयोगः
षष्ठेन निष्ठितकृतिर्जिनवर्धमानः।।
शेषा विधूतघनकर्म्मनिबद्धपाशाः,
मासेन ते यतिवरास्त्वभवन् वियोगाः ।।26।।

– समाधिभक्ति, श्लोक 26

एकादश जिने (तत्त्वार्थ– अ. 9, सू. 11)
आहारे ।।33।।
टीका–आहारकद्वयमध्येऽर्हतः आहारकानाहारकद्वयम्।
आहारो य सरीरो, तह इन्दिय आणपाण भासा य
पज्जतिगुणसमिद्धो, उत्तमदेवो हवइ अरुहो।।34।।

– कुन्दकुन्दकृत बोध प्राभृत, सटीक

बाह्यं तपः परमदुश्चरमाचरंस्त्वम्।
आध्यात्मिकस्य तपसः परिंबृहणार्थम्।।83।।

– बृहत् स्वयंभूस्तोत्रम्

अरित च केवलिभुक्तिः, समग्रहेतुर्यथा पुरा भक्तेः।
पर्याप्ति–वैद्य–तेजस–दीर्घायुष्कोदयो हेतुः।।1।।
रोगादिवत् क्षुधो... व्यभिचारो वेदनीयजन्मायाः।
प्राणिनी 'एकादशजिने'' इति जिनसामान्यविषयं च।।29।।

– केवलिभुक्तिप्रकरणम्

सेसा आहारया जीवा....।। गोम्मट ।।665।।
आहारए इन्द्रय–पाडुडिजावसजोगिकेवलि त्ति।।176।।

– षट्खंड आगम, जयधवला, पृ. 409

केवली भगवान को सुस्वर, दुस्वर, 10 प्राण, 6 पर्याप्ति, 7 योग आदि होता है। – गोम्मटसार, मूलाचार बोध प्राभृत

जगाद तत्त्वं जगतेऽर्थिनेऽञ्जसा।।4।।
कायवाक्यमनसां प्रवृत्तयो नाभवंस्तव मुनिश्चिकीर्षया।।
नासमीक्ष्य भक्तऋ प्रवृत्तयो धीर ! तावकमचिन्त्यमीहितम्।।74।।

तव वागमृतं श्रीमत्सर्वभाषास्वभावकम्।।97।।

वागपि तत्त्वं कथयितुकामा।।107।।

त्वया गीतं तत्त्वं।।118।। –बृहत्स्वयंभूस्तोत्रम्

एवं स पृष्टो भगवान् यतीन्द्रः, श्रधर्मसेनेन नराधिपेन।
हितोपदेशं व्यपदेष्टुकामः, प्रारब्धवान् वक्तुमनुग्रहाय।।42।।

–वरांगचरित, तृतीय सर्ग, पृष्ठ 30

ये सर्व पाठ दिगम्बर शास्त्रों के हैं, जिनमें मुनियों के वस्त्र, पात्र, शुद्रमुक्ति, केवलि आहार, परिषह, साक्षरीवाणी स्त्रीमुक्ति तथा नपुंसकमुक्ति आदि विधान स्पष्ट हैं। अनेकांतवादी–स्याद्वादी व्यक्ति इसमें से पर्याप्त सत्य ज्ञान प्राप्त कर सकता है।

दिगम्बर संप्रदाय और आचार्य कुंदकुंद

आचार्य श्री कुन्दकुन्द के दीक्षा-गुरु अथवा श्रुतपाठक-गुरु कौन थे, इस विषय में भी विद्वान् एकमत नहीं हैं। श्रवणबेलगोला के 40वें लेख के दो पद्यों में कुन्दकुन्द के पूर्ववर्ती कुछ आचार्यों के नाम दिये हैं, जो इस प्रकार हैं :

''मूल संघ में नन्दी संघ था और नन्दी संघ में बलात्कार गण। उस गण में पूर्वपदों का अंश जानने वाले श्री माघनन्दी हुए। माघनन्दी के पद पर श्री जिनचन्द्रसूरि हुए और जिनचंद्र के पद पर पंचनामधारी श्री पद्मनन्दी मुनि हुए।'' इस लेखांश से इतना ज्ञात होता है कि कुन्दकुन्द के प्रगुरु माघनन्दी और गुरु जिनचंद्रसूरि थे। इसके विपरीत पट्टावली में माघनन्दी के अंतेवासी का नाम गुणचन्द्र लिखा है और उसके शिष्य अथवा उत्तराधिकारी के रूप में कुन्दकुन्द का वर्णन किया है।

कुन्दकुन्द कृत 'पंचास्तिकाय प्राभृत' के व्याख्यान में श्री जयसेनाचार्य ने पद्मनन्दी जिनका नामान्तर है ऐसे कुन्दकुन्द को कुमारनन्दी सैद्धान्तिक देव का शिष्य बताया है।

श्रुतावतार कथा में अर्हद्बलि के बाद माघनन्दी का और उनके बाद धरसेन आदि आचार्यों का वर्णन किया है, माघनन्दी का नहीं, न माघनन्दी के बाद गुणचन्द्र और कुमारनन्दी के नामोल्लेख हैं। श्रवणबेलगोला के लेखों में कुन्दकुन्द के गुरु का उल्लेख दृष्टिगोचर नहीं होता, किन्तु राजा चन्द्रगुप्त के वर्णन के बाद सीधा कुन्द-कुन्द का वर्णन किया है। परम्परा का वर्णन भी कुन्दकुन्द से ही प्रारम्भ किया है, अर्थात् नन्दी संघ के प्रधान आरातीय मुनि श्री कुन्दकुन्द ही माने गए हैं। यह किसी ने सोचा ही नहीं कि कुन्दकुन्द के गुरु कौन थे। अपने ग्रंथों में कुन्दकुन्द ने भी अपने गुरु का नामोल्लेख नहीं किया। इस परिस्थिति में कुन्दकुन्द के गुरु, प्रगुरु आदि का निर्णय करना असम्भव है और पिछली पट्टावली और शिलालेखों में भले ही कुन्दकुन्द के गुरु का नाम कुछ भी लिखा हो, परन्तु वह निर्विवाद माननीय नहीं हो सकता।

नन्दी संघ की पट्टावली में जो आचार्य-परम्परा विखी हैं, वह भी उपर्युक्त कुन्दकुन्द के गुरु आदि के नामों के साथ सहमत नहीं होती। नन्दी संघ की पट्टावली का क्रम यह हैः

उमास्वाति, लौहाचार्य, यशःकीर्ति, यशोनन्दी, देवनन्दी, गुणनन्दी इत्यादि।

पट्टावली-लेखक के मत से लौहाचार्य के बाद होने वाले अर्हद्बलि, माघनन्दी, भूतबलि, पुष्पदन्त ये आचार्य भी अंग-ज्ञान के जानने वाले थे, परन्तु पट्टावली-लेखक का उक्त कथन प्रामाणिक मालूम नहीं हाता। इस परिस्थिति में आचार्य कुन्दकुन्द के गुरु कौन थे, यह प्रश्न अनिर्णीत ही रहता है।

आचार्य कुन्दकुन्द का सत्ता समय

आचार्य कुन्दकुन्द के सत्ता-समय के सम्बन्ध में दिगम्बर जैन विद्वान् भी एकमत नहीं हैं। कोई उनको विक्रम की प्रथम शती में हुआ मानते हैं, कोई दूसरी शती में, तब कोई विद्वान् दूसरी शती से भी परवर्ती समय के कुन्दकुन्दाचार्य होने चाहिए ऐसे विचार वाले हैं। परन्तु हमने दिगम्बर जैन साहित्य का परिशीलन कर इस विषय में जो निर्णय किया है, वह उक्त सभी विचारकों से जुदा पड़ता है। जितने भी कुन्दकुन्द के नाम से प्रसिद्धि पाए हुए 'प्राभृत' आदि ग्रंथ पढ़े हैं, उन सभी से ही प्रमाणित हुआ है कि कुन्दकुन्दाचार्य विक्रम की षष्ठी शती के पूर्व के व्यक्ति नहीं हैं। हमारी इस मान्यता के साधक प्रमाण निम्नोद्धृत हैं :

1) कुन्दकुन्दाचार्य कृत 'पंचास्तिकाय' की टीका में 'जयसेनाचार्य लिखते हैं कि यह ग्रंथ कुन्दकुन्दाचार्य ने शिकुमार महाराज के प्रतिबोध के लिए रचा था। डा. पाठक के विचर से यह 'शिवकुमार' ही कदम्बवंशी 'शिवमृगेश' थे जो सम्भवतः विक्रम की छठी शताब्दी के व्यक्ति थे। अतएव इनके समकालीन कुन्दकुन्द भी छठी सदी के व्यक्ति हो सकते हैं।

2) 'समय-प्राभृत' की गाथा 350 तथा 351 में कुन्दकुन्दाचार्य कहते हैं : 'लोगों के विचार में देव, नारक, तिर्यंच और मनुष्य प्राणियों को विष्णु बनाता है, तथा श्रमणों (जैन साधुओं) के मत से षट्निकाय के जीवो का कर्ता आत्मा है।

'इस प्रकार लोक और श्रमणों के सिद्धान्त में कोई विशेष भेद नहीं है। लोगों के मत में कर्त्ता विष्णु है और श्रमणों के मत में 'आत्मा'। कहने की जरुरत नहीं है कि 'विष्णु' को कर्त्ता पुरुष मानने वाले 'वैष्णव' सम्प्रदाय की उत्पित विष्णु स्वामी से ई. सं. की तीसरी शताब्दी में हुई थी। उनके सिद्धान्त ने खासा समय बीतने के बाद ही लोक-सिद्धान्त का रूप धारण किया होगा, यह निश्चित है। इससे कहना पड़ेगा कि कुन्दकुन्द विक्रम की चौथी सदी के पहले के नहीं हो सकते।

3) 'रयणसार' की 18वीं गाथा में सात क्षेत्र में दान करने का उपदेश है, श्वेताम्बर जैन साहित्य में सात क्षेत्रों में दान देने का उपदेश प्राचीन से प्राचीन ग्रंथ

‘उपदेशपद’ में है, जो ग्रंथ विक्रम की अष्टमी शती की प्राचीन कृति है। दिगम्बर ग्रन्थों में भी इसके पूर्ववर्ती किसी भी ग्रन्थ में सात क्षेत्रों में दान देने का उपदेश हमने नहीं पढ़ा। उपरान्त उसी प्रकरण की गाथा 28 वीं में कुन्दकुन्द कहते हैं : ‘पंचमकाल में इस भारत वर्ष में यंत्र, मंत्र, तंत्र, परिचर्या (सेवा या खुशामद), पक्षपात और मीठे वचनों के कारण से दान दिया जाता है, मोक्ष के हेतु नहीं।’

इससे यह साबित होता है कि कुन्दकुन्द उस समय के व्यक्ति थे जब कि इस देश में तान्त्रिक मत का खूब प्रचार हो गया था और मोक्ष की भावना की अपेक्षा से सांसारिक स्वार्थ और पक्षापक्षी का बाजार गर्म हो रहा था। पुरातत्त्ववेत्ताओं को कहने की शायद ही जरुरत होगी कि भारत वर्ष की उक्त स्थिति विक्रम की पांचवीं सदी के बाद में हुई थी।

4) ‘रयणसार’ की गाथा 32वीं में जीर्णोद्धार, प्रतिष्ठा, जिनपूजा और तीर्थवंदन विषयक द्रव्य भक्षण करने वालों की नरक-दुःख का भोगी बता कर कुन्दकुन्द कहते हैंः ‘पूजा दानादि का द्रव्य हरने वाला, पुत्र-कलत्रहीन, दरिद्र, पंगु, गूंआग, बहरा और अन्धा होता है और चाण्डालादि कुल में जन्म लेता है। इसी प्रकार अगली 33-36वीं गाथाओं में पूजा और दानादि द्रव्य भक्षण करने वालों को विविध दुर्गतियों के दुःख-भोगी होना बतलाते हैं। इससे सिद्ध होता है कि कुन्दकुन्द के समय में देवद्रव्य और दान दिये हुए द्रव्यों की दुर्व्यवस्था होना एक सामान्य बात दो गई थी। मन्दिरों की व्यवस्था में साधुओं का पूरा दखल हो चुका था और वे अपना आचार-मार्ग छोड़ कर गृहस्थोचित चैत्य-कार्यों में लग चुके थे। जैन इतिहास में यह बात सिद्ध है कि विक्रम की छठी-सातवीं सदी से साधु चैत्यों में रहकर उनकी व्यवस्था करने लग गये थे और छठी से दसवीं सदी तक उनका पूर्ण साम्राज्य रहा था। वे अपने-अपने गच्छ सम्बन्धी चैत्यों की व्यवस्था में सर्वाधिकारी के ढंग से काम करते थे। उस समय के सुविहित आचार्य इस प्रवृत्ति का विरोध भी करते थे, परन्तु उन पर उसका कोई असर नहीं होता था। इस समय को श्वेताम्बर ग्रंथकारों ने ‘चैत्यवास प्रवृत्ति-समय’ के नाम से उद्घोषित किया है। दिगम्बर सम्प्रदाय में विक्रम की ग्यारहवीं शती से ‘भट्टारकीय समय’ की प्रसिद्धि हुई है। आचार्य कुन्दकुन्द का अस्तित्व उक्त समय के बाद का है, इसी से तत्कालीन प्रवृत्तियों का खण्डन किया है, इससे यह सिद्ध होता है कि वे छठी सदी के पूर्व के व्यक्ति नहीं थे।

5) 'रयणसार' की 105 तथा 108 से 111वीं तक की गाथाओं में कुन्दकुन्द ने साधुओं की अनेक शिथिल प्रवृत्तियों का खण्डन किया है, जिनमें 'राजसेवा, ज्योतिष-विद्या, मन्त्रों से आजीविका, धनधान्य का परिग्रह, मकान, प्रतिमा, उपकरण आदि का मोह, गच्छ का आग्रह, वस्त्र और पुस्तक की ममता' आदि बातों का खण्डन लक्ष्य देने योग्य है। कहने की शायद ही जरूरत होगी कि उक्त खराबियाँ साधु समाज में छठी और सातवीं सदी में पूर्ण रूप से प्रविष्ट हो चुकी थी। पाँचवीं सदी में इनमें से बहुत कम प्रवृत्तियां साधु-समाज में प्रविष्ट होने पायी थीं और विक्रम की तीसरी चौथी शताब्दी तक तो ऐसी कोई भी बात जैन निर्ग्रन्थों में नहीं पायी जाती थी। इससे यह निस्संदेह सिद्ध होता है कि आचार्य कुन्दकुन्द विक्रम की छठी शताब्दी के बाद के ग्रंथकार हैं। यदि ऐसा न होता और दिगम्बर जैन पट्टावलियों के लेखानुसार के विक्रम की प्रथम अथवा दूसरी शती के ग्रंथकार होते तो छठी शती की प्रवृत्तियों का उनके ग्रंथों में खण्डन नहीं होता।

6) कुन्दकुन्द ने अपने ग्रंथों में अनेक स्थानों पर 'गच्छ' शब्द का प्रयोग किया है, जो विक्रम की पांचवीं सदी के बाद का परिभाषिक शब्द है। श्वेताम्बरों के प्राचीन भाष्यों तक में 'गच्छ' शब्द प्रयुक्त नहीं हुआ है। हाँ, छठी-सादवीं शताब्दी के बाद के भाष्यों, चूर्णियों और प्रकीर्णकों में 'गच्छ' शब्द का व्यवहार अवश्य हुआ है। यही बात दिगम्बर सम्प्रदाय में भी है। जहाँ तक हमें ज्ञात है उनके तीसरी-चौथी शताब्दी के साहित्य में तो क्या आठवीं सदी तक के साहित्य में भी 'गच्छ' शब्द प्रयुक्त नहीं हुआ।

7) विक्रम की नवीं सदी के पहले के किसी भी शिलालेख, ताम्रपत्र या ग्रंथ में कुन्दकुन्दाचार्य का नामोल्लेक न होना भी सिद्ध करता है कि वे उतने प्राचीन व्यक्ति न थे, जितना कि आधुनिक दिगम्बर विद्वान समझते हैं। यद्यपि मर्करा के एक ताम्रपत्र में; जो शक संवत् 388 का लिखा हुए माना जाता है, कुन्दकुन्द का नामोल्लेख है, तथापि हमारी उक्त मान्यता में इससे कुछ भी विरोध नहीं आ सकता, क्योंकि उस ताम्रपत्र में उल्लिखित तमाम आचार्यों के नामों के पहले 'भट्टार' (भट्टारक) शब्द लिखा गया है, जो विक्रम की सातवीं सदी के बाद शुरु होता है। इस दशा में ताम्रपत्र वाला संवत् कोई अर्वाचीन संवत् होना चाहिये अथवा तो यह ताम्रपत्र ही जाली होना चाहिए।

'कुछ विद्वान मर्करा के ताम्रपत्रों 65 को प्राचीन (सन् 466 ई.) मान कर

देशीयगण कोण्डकुन्दान्वय का अस्तित्व एवं उल्लेख बहुत प्राचीन मानते हैं, पर परीक्षण करने पर उक्त लेख बनावटी सिद्ध होता है तथा देशीयगण की जो परम्परा वहाँ दी गई है, वह लेख नं. 150 के बाद की मालूम होती है।'

बर्जेस महाशय का कथन है कि लेख का संवत् विल्सन सा. के (मेकेन्जी कलेक्शन) के आधार पर शक संवत् है, पर ज्योतिष शास्त्र के आधार पर उक्त संवत् के दिन 'सोमवार और नक्षत्र स्वाति' लिखा है, वह ठी नहीं। 'वार बुध और नक्षत्र उत्तराभाद्रपद' होना चाहिए था।

इन्हीं ताम्रपत्रों के सम्बन्ध में चौधरी महोदय का निम्नलिखित तर्क भी ध्यान देने योग्य है :

'यदि किन्हीं कारणों से मर्करा के ताम्रपत्रों को प्राचीन भी मान लिया जाय तो उस लेख के सन् 466 के बाद और लेख नं. 150 के सन् 931 के पहले चार-पांच सौ वर्षों तक बीच के समय में कोण्डकुन्दान्वय और देशीयगण का एक साथ लेखगत कोई प्रयोग न मिलना आश्चर्य की बात है और इतने पहले उस लेख में उक्त दोनों का एकाकी प्रयोग मर्करा के ताम्रपत्रों की स्थिति को अजीब सी बना देता है।'

मर्करा के ताम्रपत्रों में 'कौण्डकुन्दान्वय' शब्द प्रयोग से कुन्दकुन्दाचार्य के सत्ता-समय को विक्रम की दूसरी शती तक खींच ले जाते वाले विद्वानों को आचार्य चौधरी महोदय के कथन पर विचार कहना चाहिए।

इस सम्बन्ध में ' जैन शिलालेख संग्रह' के तृतीय भाग के प्राक्कथन में प्रो. हीरालालजी जैन डायरेक्टर प्राकृत जैन विद्यापीठ मुजफ्फरपुर (विहार) की निम्नलिखित सूचनाएं भी इतिहास संशोधकों की अवश्य विचारणीय है :

1) 'मर्करा के जीस ताम्रपत्र लेख के आधार पर कोण्डकुन्दान्वय का अस्तित्व पांचवीं शती में माना जाता है, वह लेख परीक्षण करने पर बनावटी सिद्ध होता है तथा देशीयगण की जो परम्परा उस लेख में दी गई है, वही लेख नं. 150 (सन् 931) के बाद की मालूम होती है।
2) कोण्डकुन्दान्वय का स्वतन्त्र प्रयोग आठवीं-नौवीं शती के लेख में देखा गया है तथा मूल संघ कोण्डकुन्दान्वय का एक साथ सर्वप्रथम प्रयोग ले. नं. 180 (लगभग 1044 ई.) में हुआ पाया जाता है।

3) डॉ. चौधरी की प्रस्तावना में प्रकट होने वाले तथ्य हमारी अनेक सांस्कृतिक और ऐतिहासिक मान्यताओं को चुनौती देने वाले हैं। अतएव इनके ऊपर गम्भीर विचार करने तथा उनसे फलित होने वाली बातों को अपने इतिहास में यथोचित रूप से समाविष्ट करने की आवश्यकता है।'

आचार्य कुन्दकुन्द के सम्बन्ध में उपर्युक्त विद्वानों का निर्णय लिखने के बाद इसी समय एक अन्य जैन विद्वान का कुन्दकुन्दाचार्य का सत्ता-समय विक्रम की षष्ठी शती में होने का निर्णय दृष्टिगोचर हुआ, जो नीचे-उद्धृत किया जाता हैः

कुन्दकुन्दाचार्य विरचित सटीक 'समयप्राभृत' का प्रथम संस्करण जो ईसवी सन् 1914 में प्रकाशित हुआ था, उसकी प्रस्तावना में उसके सम्पादक न्यायशास्त्री पं. श्री गजाधरलालजी जैन लिखते हैंः

''**श्रीशिवकुमार-महाराज-प्रतिबोधनार्थ विलिलेख भगवान् कुंदकुन्दः स्वीयं ग्रंथमिति, समाविर्भावितं च पंचास्तिकायस्य क्रमशः कार्णाटिक-संस्कृत-टीकाकारैः श्री बालचंद्र-जयसेनाचार्यः ततो युक्त्यानयापि भगवत्कुंद-कुंदसमयः तस्य शिवमृगेशवर्ममानका नीनत्व त् 450 तमशक-संवत्सर एव सिद्धयति, स्वीकारे चास्मिन् क्षतिरपि नास्ति कापीति।।**' (पृ. 8)

अर्थात् 'श्री शिवकुमार महाराज को प्रतिबोध देने के लिए भगवान् कुंदकुंद ने अपने इस ग्रंथ को रचा था, ऐसा 'पंचास्तिकाय सार' के क्रमशः कार्णाटिक-संस्कृत टीकाकार श्री बालचन्द्र, जयसेनाचार्य ने प्रकट किया है; इस युक्ति से भी भगवान् कुंदकुंद का समय शिवमृगेशवर्म के समकालीन होने से 450 वां शक संवत्सर सिद्ध होता है और इसके स्वीकार के कुछ बाधक भी नहीं हैं।'

पं. गजाधरलालजी के उपर्युक्त विचार के अनुसार भी कुंदकुंदाचार्य का सत्ता-समय शक संवत् 450 में सिद्ध होता है, जो हमारे मत से ठीक मिल जाता है।

श्रवणबेलगोल तथा उसके आसपास के जैन शिलालेखों में शक की आठवीं शती के पहले के किसी भी लेख में कुंदकुंद का नामनिर्देश न मिलना भी यही प्रमाणित करता है कि प्रसिद्ध दिगम्बर जैनाचार्य श्रीकुन्दकुन्द विक्रम की षष्ठी शती के उत्तरार्ध के विद्वान थे।

कुंदकुंद ने 'समयसार-प्राभृत' आदि में जो दार्शनिक चर्चा की है, उससे भी वे

हमारे अनुमानित समय से पूर्ववर्तिकालभावी नहीं हैं। कुन्दकुन्दाचार्य ने अपने समय-प्राभृत को 383 आदि गाथाओं में श्वेतमृत्तिका के दृष्टान्त से अद्वैतवाद का जो खण्डन किया है, वह अद्वैतवाद वास्तव में बौद्धों का विज्ञानवाद समझना चाहिए। प्रसिद्ध बौद्धाचार्य धर्मकीर्ति ने अपने 'प्रमाणवार्तिक' ग्रंथ में बौद्ध-विज्ञानवाद का जो प्रतिपादन किया है उसी का 'जहसेटियादु' इत्यादि गाथाओं में कुन्दकुन्द ने निरसन किया है, धर्मकीर्ति का कथन था कि ज्ञान और ज्ञान का विषय भिन्न नहीं है। जो नील पीत आदि पदार्थों से नीलाभास, पीताभास वाला पदार्थ दृष्टिगोचर होता है, वह विज्ञान-मात्र है। इसके उत्तर में आचार्य कुंदकुंद कहते हैं : जिस प्रकार श्वेतमृत्तिका से मकान पोता जाता है और सारा मकान श्वेतमृत्तिका के रूप में देखा जाता है, फिर भी मकान मृत्तिकामय नहीं बन जाता। मकान मकान ही रहता है और उस पर पोती हुई श्वेतमृत्तिका उससे भिन्न मृत्तिका ही रहती है। इन गाथाओं की व्याख्या में टीकाकारों ने अपनी व्याख्याओं में 'ब्रह्माद्वैतवाद' का खण्डन बताया है, जो यथार्थ नहीं है, क्योंकि शंकराचार्य का 'ब्रह्माद्वैतवाद' कुन्दकुन्दाचार्य के परवर्ती समय का है न कि पूर्ववर्ती समय का। अतः 'जहसेटियादि' गाथाओं की व्याख्या विज्ञानवाद-खण्डनपरक समझना चाहिए। समयसार के इस निरुपण से भी विक्रम की षष्ठी शती के पूर्वार्धवर्ती बौद्धाचार्य धर्मकीर्ति के विज्ञानवाद का खण्डन करने से कुन्दकुन्दाचार्य का सत्ता समय निर्विवाद रूप से विक्रम की षष्ठी शती का उत्तरार्ध प्रमाणित होता है।

मथुरा के शिलालेखों से व पट्ट आदि से श्वेताम्बर मत की प्राचिनता

मथुरा के विभिन्न अभिलेखों में उल्लिखित कोट्टिकगण, इसके चार कुलों–ब्रह्मदासिक, वच्छलीय, ठानिय और प्रश्नवाहन तथा चार शाखाओं–उच्चैनागरी, विद्याधरी, वैर–वइर–वइरी तथा मज्झमा को विद्वानों[1] ने **कल्पसूत्र स्थविरावली** के अन्तर्गत उल्लिखित कोटिक गण, उसके चार कुलों–बम्भलिज्ज, वत्छलिज्ज, वाणिज्य और पण्णवाहन से तथा चार शाखाओं–उच्चानागरी, विज्जाहरी, वइरी और मज्झमिल्ला से अभिन्न माना है।

मथुरा के लेख क्रमांक 26 में मेहिक कुल का तो नाम मिलता है, परन्तु यह कुल किस गण से सम्पद्ध था ! इस कुल की कौन सी शाखा थी ! इन बातों का स्पष्टीकरण उक्त लेख से नहीं अपितु कल्पसूत्रगत स्थविरावली[2] से होता है जहाँ हम देखते हैं कि उक्त कुल वेशवाटिक गण के चार कुलों मं से एक है।

कल्पसूत्र	मथुरा के लेख
कोटिकगण	कोटिकगण

4 कुल

	कल्पसूत्र	**मथुरा के लेख**
1.	वंभलिज्ज	ब्रह्मदासिक
2.	वत्छलिज्ज	वच्छलिय

---

1. S. B. Deo. History of ***Jain Monachism,*** Deccan College Dissertatin Series No. 17, Poona 1956 A.D. P-516.
पट्टावलीपरागसंग्रह, पृ. 42.
गुलाबचंद्र चौधरी 'प्रस्तावना' जैनशिलालेखसंग्रह, भाग 2–3 माणिकचंद्र दिगम्बर जैन ग्रंथमाला, पृ. 46, मुंबई 1957 ई. पृ. 15–16.
J.P. Singh, Aspect of Early Jainism, Monographs of the Department of A.I.H.C. & Arch. B.H.U. Series No. 7, Varanasi 1972, P. 42-43. A.K. Chatarje, A Comprihensive History of Jainism, Vol. - 1, Pp-56-57.
2. गणियं मेहिय कामड्ढियं च तह होइ इंदपुरगं च।
एयाइं वेसवाडियगणस्य चत्तारि उ कुलाइं।।
कल्पसूत्र स्थविरावली, पट्टावलीसमुच्चय, भाग –1, पृ. 6।

3.	वाणिज्ज	ठानिय
4.	पण्णवाहन	प्रश्नवाहन

4. शाखायें

	कल्पसूत्र	**मथुरा के लेख**
1.	उच्चनगरी	1. उच्चेनागरी
2.	विज्जाहरी	2. विद्याधारी
3.	वइरी	3. वेर-वैर-वइरी
4.	मज्झमिल्ला	4. मज्झम

	कल्पसूत्र	मथुरा के लेख
1.	वैशवाटिकगण	x

4 कुल

	कल्पसूत्र	मथुरा के लेख
1.	गणिक	1. x
2.	मेधिक	2. मेहिय
3.	कामार्द्धिक	3. x
4.	इन्द्रपुरक	4. x

मथुरा के 11 अभिलेखों में उल्लिखित वारण गण को कल्पसूत्र के स्थविरा-वलीगत चारणगण से अभिन्न माना गया है।[1] लेख क्रमांक 34 और 47 में उल्लिखित उक्त गण के पेतवामिक कुल को चारणगण के पीइधम्मयं कुल से, लेख क्रमांक 17, 44 और 80 में उल्लिखित आर्य हाटकीय कुल को चारणगण के हालिज्जकुल से अभिन्न माना गया है।[2] ठीक इसी प्रकार लेख क्रमांक 37 के पुष्यमित्रीय तथा लेखक्रमांक 45 के आर्य चेटिय को स्थविरावलीगत चारणगण के ही पूसमित्तिज्ज तता अज्जचेडय से तुलनीय माना गया है।[3] ठीक यही बात लेख क्रमांक 52 में उल्लिखित आर्यभित्स और लेख क्रमांक 76 में उल्लिखित

1-2. जैन शिलालेख संग्रह, भाग 3, प्रस्तावना, पृ. 15-16.

3. B. S. Dec. History of Jain Monachism, Pp. 515-518

कनियासिक कुल को कल्पस्थविरावलीगत चारणगण के वत्सलीय और कण्हसय कुल के सम्बन्ध में भी कही गयी है। लेख क्रमांक 82 में उल्लिखित नाडिक कुल कल्पस्थविरावलीगत उक्त गण के मालिज्ज (माल्यक) कुल से तुलनीय माना जा सकता है।

गण

कल्पसूत्र स्थविरावली	**मथुरा के लेख**
चारण	वारण

कुल

1.	वत्सलीय	आर्यभित्स (लेखक्रमांक – 52)
2.	प्रीतिधर्मक	पेतवामिक (लेखक्रमांक 34 एवं 47)
3.	हालिज्ज	आर्यहाटकीय (लेखक्रमांक 17, 44, 80)
3.	पूसमितिज्ज	पुष्यमित्रीय (लेखक्रमांक 37)
5.	अज्जवेडय	आर्यचेटिय (लेखक्रमांक 45)
6.	कण्हसय	कनियासिक (लेखक्रमांक 76)
7.	मालिज्ज (माल्यक)	नाडिक (लेखक्रमांक 82)

लेखक्रमांक 45 में उल्लिखित वारण (चारण) गण के हारितमालागरी, लेख क्रमांक 17, 44 और 80 में उल्लिखित वाजनागरी, लेख क्रमांक 52 में उल्लिखित सं. (कारिया) तथा लेख क्रमांक 76 में उल्लिखित ओद शाखा को प्रायः नामसाम्य के आधार पर कल्पस्थविरावलीगत चारण गण की 4 शाखाओं –हारित-मालागारिक, वज्रनागरी, संकाशिका और गवेधुका से समीकृत किया गया है।[1]

1. J. P. Singh, 'Aspect of Early Jainism, pp. 36-51.

वारण (चारण) गण की शाखायें

	कल्पसूत्र स्थविरावली	**मथुरा के अभिलेख**
1.	हारितमालागारिक	हारितमालाकाधी (लेख क्रमांक 45)
2.	वज्रनागरी	वाजनगरी (लेख क्रमांक 17, 44, 80)
3.	संकाशिका	सं (कासिया) (लेख क्रमांक 52)
4.	गवेधुका	ओद (लेख क्रमांक 76)

मथुरा के लेख क्रमांक 24 और 69 में उल्लिखित उद्देहगण और इसके दो कुलों नागभूतिक और परिधासिक नामसाम्य के आधार पर ही कल्पस्थविरावलीगत नागभूतिक और पारिहासक से तुलनीय मानी गयी है।[1]

पेतपुत्रिका का मिलान उद्देहगण की पूर्वगत्रिका शाखा से हो सकता है किन्तु उक्त परिधासिक कुल के पेतपुत्रिका शाखा का मिलान नहीं हो पाया है।

कुल

कल्पसूत्र स्थविरावली	**मथुरा के लेख**
नागभूति	नागभूतिया (लेखक्रमांक 24)
परिहासक	परिधासिक (लेखक्रमांक 69)

शाखा

कल्पसूत्रस्थविरावली	**मथुरा के लेख**
x	पेतपुत्रिका (लेखक्रमांक 69)

1. तत्त्वार्थसूत्र, विवेचक पं. सुखलाल संघवी, पार्श्वनाथ विद्याश्रम ग्रंथमाला ग्रंथांक 22, तृतीय संस्करण, वाराणसी 1976 ई., प्रस्तावना, पृ. 4–5 और आगे.

उक्त गण-कुल और शाखाओं के अध्ययन से हमें जो निष्कर्ष प्राप्त होते हैं, वे निम्नानुसार है :

1. कोटिकगण सबसे अधिक लोकप्रिय गण रहा है और आज भी यह कुछ अंशों में विद्यामान है। खरतरगच्छ, तपागच्छ आदि में आज भी मुनिजनों एवं साध्वियों की दीक्षा के समय कोटिकगण, चन्द्रकुल और वज्रशाखा का नाम उच्चारित किया जाता है।

2. कुल गणों का नाम उनके प्रवर्तकों के नामों पर पड़ा जैसे गोदासगण, उत्तरबलिस्सहगण आदि।

3. कुछ शाखाओं का नामकरण व्यक्तिगत और स्थानों के नाम पर भी हुआ जैसे इसिपालिय, सावत्थिया, कोशाम्बिका आदि।

4. जैन श्रमणों के विभिन्न गण-कुल-शाखा आदि में विभाजन की प्राचीनता ईसापूर्व तीसरी शताब्दी तक जाती है।

5. कल्पसूत्रस्थविरावली में 'सम्भोगों' का उल्लेख नहीं मिलता जब कि मथुरा के अभिलेखों में इसका स्पष्ट उल्लेख है।

6. मथुरा के अभिलेखों तथा कल्पसूत्र स्थविरावली में किसी भी गच्छ का नाम नहीं मिलता है।

यह विचारणीय है कि कल्पसूत्र की विभिन्न प्रतियों में 'स्थविरावली' के अन्तर्गत कुछ पाठभेद भी दिखाई देते हैं। जहां मुनि दर्शनविजय द्वारा संकलित एवं सम्पादित पट्टावली समुच्चय, प्रथम भाग और मुनि कल्याणविजयजी द्वारा संकलित पट्टावली पराग संग्रह से दी गयी कल्पसूत्र 'स्थविरावली' में गाथा 222 के आगे 19 छोटी गाथाओं में आर्य फल्गुमित्र से लेकर आर्य शाण्डिल्य तक की गुरु-परम्परा दी गयीहै। इसके पश्चात् आगे 14 गाथाओं में पुनः आर्य फल्गुमित्र से लेकर देवर्धिगणि क्षमाश्रमण तक की आचार्य परम्परा दी गयी है वहीं विनयसागरजी द्वारा संपादित और प्राकृत भारती अकादमी जयपुर द्वारा प्रकाशित कल्पसूत्र की गाथा 223 में 'स्थविरावली' के अन्तर्गत आर्य फल्गुमित्र से लेकर देवद्धिगणि क्षमाश्रमण तक की श्रमण परम्परा दी गयी है परन्तु उसमें आर्य धर्म के पश्चात् हुए आर्य जम्बू, आर्य नंदित, दुष्यगणि आर्य स्थिरगुप्त और आर्य धर्म का नाम नहीं मिलता।

जैसा कि प्रारंभ में ही हम देख चुके हैं सुस्थित-सुप्रतिबुद्ध के एक शिष्य प्रियग्रंथ से मध्यमिका शाखा और प्रश्नवाहनकुल अस्तित्व में आया। उन्हीं के दूसरे शिष्य विद्याधर गोपाल से विद्याधारीशाखा अस्तित्त्व में आयी जो आगे की शताब्दियों में विद्याधरकुल के रूप में विख्यात हुई।

इसी प्रकार आर्यवज्र के शिष्य आर्य वज्रसेन (ईस्वी सन् की प्रथम शताब्दी) के एक शिष्य नागिल से नाइली शाखा प्रारंभ हुई तो बाद की शताब्दियों में नागेन्द्रकुल के रूप में दिखाई देती है। प्रश्नवाहनकुल, विद्याधरकुल और नागेन्द्रकुल श्वेताम्बर श्रमण परम्परा से अभिन्न रूप में सम्बद्ध रहे हैं। क्या इस आधार पर ईस्वी सन् की प्रथम, द्वितीय अथवा तृतीय शताब्दी तक उत्तर भारतीय निर्ग्रंथ परम्परा से श्वेताम्बर श्रमण संघ का विधिवत् प्रारंभ माना जा सकता है ?

कोटिकगण और उसकी शाखाओं का बाद की शताब्दियों में भी प्रचार-प्रसार होता रहा। आचार्य उमास्वाति (ई. सन् चौथी शताब्दी) भी इसी गण की उच्चैर्नागर शाखा से सम्बद्ध थे। नन्दीचूर्णी के कर्ता जिनदासगणि महत्तर कोटिकगण, वाणिज्यकुल और वज्रीशाखा के थे[1]।

दशवैकालिक चूर्णी के कर्ता अगस्त्यसिंह (ई. सन्585-600) भी कोटिकगण की ब्रजीशाखा से सम्बद्ध थे[2]। उनके गुरु का नाम ऋषिगुप्त था।उत्तराध्ययनचूर्णी के कर्ता (नाम अज्ञात) के गुरु का नाम गोपाल- गणिमहत्तर था जो कोटिक गण, वाणिज्यकुल और वज्रशाखा के थे।[3]

---

1. नंदीसूत्र जिनदासगणिमहत्तर कृत चूर्णी सहित, संपा. मुनि पुण्यविजयजी, प्रस्तावना, पृ. 5 और आगे.
2. वही पृ. 9
3. वाणिजकुलसंभूतो कोडियगणितो य विज्जसाहीतो।
   गोवालियमहत्तरओ विक्खातो आसि लोगम्मि।।1।।
   ससमय-परसमयविऊ ओयस्सी देसियं सुगंभीरो।
   सीसगणसंपरिवुडो वक्खाणरतिप्पियो आसी।।2।।
   तेसिं सीसेण इमं उत्तरज्झयणाण चुण्णखंडं तु।
   रइयं अणुग्गहत्थं सीसाणं मंदबुद्धीणं।।3।।
   जं एत्थं उस्सुतं अयाणमाणेण विरतितं होज्जा।
   तुं अणुओगधरा मे अणुचिंतेउं समारेतु।।4।।
   वही, प्रस्तावना पृ. 8

6ठीं शताब्दी में कोटिक गण से दो नए कुलों निवृत्ति[1] और चन्द्र[2] का उल्लेख प्राप्त होता है। विशेषावष्यकभाष्य आदि के कर्ता जिनभद्रगणिक्षमाश्रमण[3], उपमितिभवप्रपंचाकथा के कर्ता सिद्धर्षि (8वीं शताब्दी)[4] आदि निवृत्तिकुल से सम्बद्ध थे। चन्द्रकुल से पूर्व-मध्यकाल में छोटे-बड़े अनेक गच्छ अस्तित्व में आये। पूर्व मध्यकाल और मध्यकाल का श्वेताम्बर मूर्तिपूजक समुदाय का इतिहास वस्तुतः विभिन्न गच्छों का ही इतिहास है।[5] पूर्व मध्यकाल में अस्तित्व में आये गच्छों में से आज केवल खरतरगच्छ, अंचलगच्छ, तपागच्छ तथा तपागच्छ उद्भूत पार्श्वचन्द्रगच्छ, बृहद्सौधर्मतपागच्छ अपरनाम त्रिस्तुतिकगच्छ ही विद्यमान हैं, शेष सभी गच्छ नामशेष हो गये हैं एवं उनका अस्तित्व केवल इतिहास के पृष्टों तक ही सीमित है।

1. शिवप्रसाद, 'निवृत्ति कुल का इतिहास' निर्ग्रंथ, संपा. मधुसूदन ढांकी, जीतेन्द्र शाह, वर्ष 2, अहमदाबाद 1996 ई., हिंदी खण्ड, पृ. 34-38.
2. शिवप्रसाद, 'श्वेताम्बर संप्रदाय का चन्द्रकुल और उसके प्रसिद्ध आचार्य' तुलसीप्रज्ञा, वर्ष 18, अंक 4, पृ. 38-344

3-4 शिवप्रसाद 'निवृत्तिकुल का इतिहास,' निर्ग्रंथ, वर्ष 2, हिन्दी खण्ड, पृ. 34-35.

5. प्रस्तुत पंक्तियों के लेखक द्वारा उक्त सभी गच्छों का ऐतिहासिक अध्ययन किया गया है जौ जैन श्वेतांबर गच्छों का संक्षिप्त इतिहास नाम से दो भागों में वर्ष 2011 में श्री ॐकारसूरि आराधना भवन, सुरत से प्रकाशित हो चुका है।

श्वेतांबर-दिगंबर मूर्तियों की नूतन मर्यादा वि. सं. 890

जैन आगमों में वर्णन मिलता है कि हमारे सभी-चौबीस तीर्थंकर वस्त्रधारी ही थे केवल प्रथम तथा अन्तिम तीर्थंकरों ने अपनी उत्तरावस्था में वस्त्ररहित अवस्था का स्वीकार किया था। इस कारण से प्राचीन काल में जिनप्रतिमाएं भी दोनों प्रकार की निर्मित की जाती थीं। परन्तु वह प्रतिमाविधान उस प्रकार का था कि उसमें नग्नतासूचक या अनग्नतासूचक कोई विशेष चिन्ह अंकित किये जाते नहीं थे, जिनकी अष्टभेदी तथा सत्रहभेदी पूजा की जाती थी।

इसके अतिरिक्त आयागपट्ट, चरण चरणचिन्ह तथा असद्भूत स्थापनाओं की भी पूजा की जाती थी। दिगम्बरों ने अपने नूतन मत में इस प्रतिमाविधान तथा पूजाविधि का स्वीकार कर लिया-सदा के लिए अपना लिया था। दिगम्बर मतानुयायी प्राचीन प्रतिमाओं का दर्शन-पूजन करते थे। यद्यपि तीर्थों श्वेताम्बरों के अधिकार में थे। फिर भी विधिभेद न होने के कारण दिगंबर लोग भी दर्शन-पूजन का लाभ लेते थे। दक्षिण में उन्होंने अपने नये तीर्थ भी स्थापित किये थे। इस प्रकार इन दोनों संप्रदायों के बीच आरंभ में प्रतिमा तथा तीर्थों के संबंध में किसी प्रकार का मतभेद न था 'किन्तु विक्रम संवत् 890 के आसपास गिरनार पर्वत पर दोनों संघों के बीच सिद्धांत विषयक मतभेद के कारण संघर्ष हुआ तब से आचार्य श्री बप्पभट्टसूरिजी की अध्यक्षता में ऐसी मर्यादा निश्चित की गई कि **अब से श्वेतांबर जैन जिनप्रतिमा पर आंचलिका (लंगोट) बनाये जाय और दिगंबर जैन जिनप्रतिमा में स्पष्ट रूप से लिंग बनायें जाय।** बस, उस समय से दोनों संप्रदायों की प्रतिमाओं के बीच भेद स्पष्ट हो गया। इस समय के पूर्व निर्मित जो जो प्रतिमाएँ हैं, उनमें ऐसा विशेष भेद नहीं है। मथूरा, धुलेवा, भांदक, कुल्पाक, डभोई, महुड़ी, मक्सी, मोएन-जो-डोरो आदि में उस काल की प्राचीन प्रतिमाएँ हैं।

जिन देव की प्रतिमा का भेद तो स्वीकृत किया गया, परंतु पूजाविधि में तो भेद था ही नहीं। अतः तीर्थंकरों की प्राचीन प्रतिमाओं की तथा चरणों की पूजा तो दोनों संप्रदाय अभेदभाव से साथ रहकर भी करते थे। विक्रम की सत्रहवीं शताब्दि तक इसमें मतभेद नहीं था।

विक्रम संवत् 1680 में खरतरगच्छीय पंडित बनारसीदास ने दिगंबर तेरापंथ

स्थापित थिा जिसमें उन्होंने दिगंबरों की सात बातों का इन्कार किया और किसी दुर्भाग्यपूर्ण समय में जिनपूजाविधि में भी उन्होंने परिवर्तन किया। इस से प्रथम तो वीसपंथी तथा तेरहपंथी लोगों में पूजाविधि के विषय में झगड़ा चला और बाद में इसी कारण से तीर्थों में श्वेतांबरों के साथ भी विवाद आरंभ हुआ। यद्यपि आज भी श्वेतांबर तथा इन तेरहपंथियों के कारण ही तीर्थों में झगड़े शुरु हुए थे। अंत में न्याय श्वेतांबरों के पक्ष में दिया गया है अतः इन दोनों (वि.सं. 2008 के आसपास) ये झगड़े कुछ अंशों में शांत हुए हैं तथा विवेकशील दिगंबर जैनों की भी ऐसे विवादों के प्रति अरूचि होने लगी है। इस प्रकार जिनबिंब तथा जैन तीर्थों से संबंधित मतभेद बाद में ही उत्पन्न हुआ था।

(इति जैन प्रतिमा की नग्नता-अनग्नता)

(संपादकीय-जैनों में मूर्तिपूजा विषयक मान्यता-प्राचीनता विषयक जूनागढ़ के तथा महुड़ी के शिलालेखों के उल्लेख यहाँ महत्त्वपूर्ण सिद्ध होंगे।)

जैन परंपरा का इतिहास - भाग-1

जूनागढ़ – गिरनार तो यदुकुलतिलक त्रिभुवनभानु नेमिनाथ के समय का प्राचीन तीर्थ है। वहाँ अनेक जैन मंदिर एवं गुफाएं हैं। उसकी तलहटी में स्थित जूनागढ़ में उसके बाद की शताब्दि के प्राचीन शीलोख प्राप्त हुए हैं। श्री अमृतलाल व पंड्या लिखते हैं कि क्षत्रपकाल में काठियावाड में जैन धर्म का प्रचार बहुत हुआ था उस समय के दो लेख प्राप्त हुवे हैं। 1. जुनागढ़ के साधु प्यारा के मठ में से मिला हुआ लेख तथा 2. रा. ईश्वरलाल जी. राजा की प्राप्त प्राचीन लेख जिसका स्केल उन्होंने दिनांक 4-5-51 के जन्मभूमि में प्रकाशित करवाया है और जिसमें 'तीरथस्वामी थाने' शब्द स्पष्ट रूप से उत्कीर्ण है।

उपसंहार

श्वेताम्बर और दिगम्बर जैन परम्पराओं के विषय में जितना चाहे लिखा जा सकता है। क्योंकि ये दोनों ही परम्पराएँ अब तक दृढ़मूल हैं और अपनी कृतियों से संसार को प्रभावित कर रही हैं। यद्यपि ग्रंथ में इससे अधिक लिखना उचित नहीं जँचता ।

यों तो इस विषय में अनेक प्राचीन और आधुनिक विद्वान लिख चुके हैं तथापि आज तक उन लेखों से इन परम्पराओं की वास्तविकता प्रकट नहीं हुई थी। हमने यहाँ जो इतना विस्तार किया है खास इसी त्रुटि को दूर करने के लिये।

दिगम्बर विद्वान् कहा करते हैं कि 'स्थविरकल्प' नामक 'कल्प' पिछले समय में श्वेताम्बरों द्वारा गढ़ा गया है; परन्तु इस ग्रंथ से वे जान सकेंगे कि 'स्थविरकल्प' की मान्यता प्राचीन दिगम्बराचार्यों में भी थी। जिनकल्पधारक साधु प्रथम संहननवाला और विशिष्ट श्रुतधर होना चाहिए, ऐसी केवल श्वेताम्बरों की ही मान्यता न थी, बल्कि दिगम्बराचार्य भी यही मानते थे कि जिनकल्पित प्रथम संहननधारी और एकादशाङ्ग श्रुतधारी होना चाहिये। इन मान्यताओं के ऊपर से यह निश्चित हो जाता है कि भगवान् महावीर के निर्वाण के बाद थोड़े ही समय में प्रथम संहनन के साथ ' जिनकल्प' का विच्छेद हो गया था, जैसा कि श्वेताम्बर परम्परा वाले मानते हैं। उस समय के बाद जितने भी दिगम्बर-श्वेताम्बर साधु हुए सब स्थविरकल्पिक थे।

जिनकल्पित और स्थविरकल्पिकों के आचारमार्ग का जैसा पृथक्करण श्वेताम्बराचार्यों ने किया है वैसा दिगम्बराचार्यों ने नहीं किया और एकान्त नग्नता एकान्त निष्प्रतिकर्मतादि कितने ही जिनकल्पिकों के उग्र आचारों को वे स्थविरकल्पिकों के लिये भी एकान्तिक मान बैठे। परिणामस्वरूप दोनों परम्पराओं के मिलने का रास्ता ही बन्द हो गया और दोनों परम्परावालों में एक दूसरे को निह्नव और मिथ्यादृष्टि कहने तक की नौबत पहुँच गयी।

श्वेताम्बर-सम्प्रदाय का खंडन करनेवाले यदि जान लेते कि उनके पूर्वाचार्य भी स्त्रीमुक्ति, केवलिमुक्ति और साधुओं के लिये अपवाद मार्ग से वस्त्रपात्र का स्वीकार करते थे तो हम समझते हैं कि वे श्वेताम्बरों के साथ इतना विरोध कभी नहीं करते।

भद्रबाहु के दक्षिण में जाने के बाद श्वेताम्बरमत की उत्पत्ति होने सम्बन्धी

दिगम्बरीय मान्यता कितनी निर्मूल है, यह बात इस पुस्तक से स्पष्ट हो गई है। सच तो यह है कि भद्रबाहु के दक्षिण में जाने संबंधी घटना विक्रम की पाँचवी सदी के अन्त में देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण के समय में घटी थी। उस समय में उत्तर भारतवर्ष में दुर्भिक्ष भी पड़ा था और उसके बाद सुभिक्ष होने पर वलभी में श्वेताम्बर संघ का एक बड़ा भारी सम्मेलन भी हुआ था। जिसमें माथुरी और वालभी वाचनाओं का एकीकरण और पुस्तक-लेखन-संबन्धी चिरस्मरणीय कार्य सम्पन्न हुए थे। इसी अर्वाचीन घटना को श्रुतकेवली भद्रबाहु के साथ जोड़कर दिगम्बर लेखकों ने अपने संप्रदाय को प्राचीन ठहराने की चेष्टा की है; परन्तु यदि वे यह जान लेते कि दिगम्बरों के ही लेखों से यह घटना द्वितीय भद्रबाहु संबंधी सिद्ध होती है तो हम समझते हैं कि श्वेताम्बरों की अर्वाचीनता सिद्ध करने के लिये वे कभी चेष्टा नहीं करते।

वर्तमान जैन आगमों को कल्पित और अर्वाचीन कहनेवाले दिगम्बर जैन विद्वान् यदि यह जान लेते कि उनके धार्मिक ग्रंथ भी, जिन्हें वे प्रामाणिक और आप्तप्रणीत समझते हैं, उन्हीं आगमों के आधार पर बने हैं जिन्हें वे नूतन और श्वेताम्बराचार्य प्रणीत कहते हैं, तो शायद जैन आगमों का वे इतना निरादर कभी नहीं करते। इसी प्रकार श्वेताम्बर लेखक भी यदि यह समझ लेते कि उनकी परम्परा के पूर्वकालीन मुनि भी नग्नता और अर्धनग्नता का आदर करते थे और अमुक देशकाल में वे स्वयं नग्न और अर्धनग्न रहते थे तो हम समझते हैं कि नग्नता के नाते दिगम्बर जैनों को कोसने का समय नहीं आता।

हमें आशा है कि दोनों सम्प्रदायों के विवेचक विद्वान् और सत्यान्वेषी पाठक इस पुस्तक को जिज्ञासाबुद्धि से पढ़ेंगे और वस्तु-स्थिति को समझने का यत्न करेंगे।

मुख्य आधार ग्रंथ

* प.पू. उ. धर्मसागरजी रचित प्रवचन परिक्षा ग्रंथ
* प.पू. महो. यशोविजयजी के ग्रंथ
* प.पू. आ. विजयेन्द्र सू.म. के कुछ ग्रंथ
* प.पू. पं. कल्याण वि.म. के कुछ ग्रंथ
* प.पू.पं. काशिनाथजी का दिगंबर–श्वेतांबर ग्रंथ
* प.पू.पं. सागरमलजी के कुछ ग्रंथ
* प.पू.पं. नाथुराम प्रेमी के ग्रंथ
* निन्हववाद ग्रंथ
* जैनत्व जागरण भाग – 1
* जैन तत्त्वादर्श
* जैन धर्म और यापनिय संप्रदाय
* भगवती आराधना
* रत्नकरंडक श्रावकाचार
* महापुराण
* उत्तरपुराण
* हरिवंशपुराण
* आवहेकर के ग्रंथ

मिशन जैनत्व जागरण द्वारा प्रसारित साहित्य

भूषण शाह द्वारा लिखित/संपादित हिन्दी पुस्तक

	मूल्य
1. जैनागम सिद्ध मूर्तिपूजा	100/-
2. जैनत्व जागरण	200/-
3. जागे रे जैन संघ	30/-
4. पाकिस्तान में जैन मंदिर	100/-
5. पल्लीवाल जैन इतिहास	100/-
6. दिगंबर संप्रदाय एक अध्ययन	100/-
7. श्रीमहाकालिका कल्प एवं प्राचिन तीर्थ पावागढ़	100/-
8. अकबर प्रतिबोधक कौन ?	50/-
9. इतिहास गवाह है।	30/-
10. तपागच्छ इतिहास	100/-
11. सांच को आंच नहीं	100/-
12. आगम प्रश्नोत्तरी	20/-
13. जगजयवंत जीरावला	100/-
14. द्रव्यपूजा एवं भावपूजा का समन्वय	50/-
15. प्रभुवीर की श्रमण परंपरा	50/-
16. इतिहास के आइने में आ. अभयदेवसूरिजी का गच्छ	200/-
17. जिनमंदिर एवं जिनबिंब की सार्थकता	100/-
18. जहाँ नमस्कार वहाँ चमत्कर	50/-
19. प्रतिमा पूजन रहस्य	300/-
20. जैनत्व जागरण भाग-2	200/-
21. जिनपूजा विधि एवं जिनभक्तों की गौरवगाथा	200/-
22. अनुपमंडल और हमारा संघ	100/-

भूषण शाह द्वारा लिखित/संपादित गुजराती पुस्तक

૧. મંત્રં સંસાર સારં	૨૦૦/-
૨. જંબૂ જિનાલય શુદ્ધિકરણ	૩૦/-
૩. જાગે રે જૈન સંઘ	૨૦/-
૪. ઘંટનાદ	
૫. શ્રુત રત્નાકર (પૂ. ગુરૂદેવ જંબૂવિજયજી મ.સા. નું. જીવન ચરિત્ર)	

भूषण शाह द्वारा संपादित अंग्रेजी पुस्तक

1. Lights	300/-
2. History of Jainism	300/-

डॉ. प्रीतमबेन सिंघवी द्वारा लिखित/संपादित

	मूल्य
1. समत्वयोग (1996)	100/-
2. अनेकांतवाद (1999)	100/-
3. अणुपेहा (2001)	100/-
4. आणंदा (1999)	50/-
5. सदयवत्स कथानकम् (1999)	50/-
6. संप्रतिनृप चरित्रम् (1999)	50/-
7. दान एक अमृतमयी परंपरा (2012)	310/-
8. हिन्दी जैन साहित्य में कृष्ण का स्वरूप (1992)	100/-
9. दोहा पाहुडं (1999)	50/-
10. बाराक्खर कवक (1997)	50/-
11. प्रभुवीर का अंतिम संदेश (2000)	50/-
12. दोहाणुपेहा (संपादित-1998)	50/-
13. तरंगवती (1999)	50/-
14. हरिवंशपुराण	-
૧૫. નંદાવર્ત નું નંદનવન (૨૦૦૩)	50/-

डॉ. प्रीतमबेन सिंघवी द्वारा अनुवादित

1. संवेदन की सरगम (2007)50/-
2. संवेदन की सुवास (2008)50/-
3. संवेदन की झलक (2008)50/-
4. संवेदन की मस्ती (2007)50/-
5. आत्मकथाएँ (संपादित) (2013) 50/-
6. शासन सम्राट(जीवन परिचय) 199950/-
7. विद्युत सजीव या निर्जीव (1999) 50/-

प. पू. मुनिराज ज्ञानसुंदरजी म.सा. द्वारा लिखीत साहित्य

1. मूर्तिपूजा का प्राचिन इतिहास 100/-
2. श्रीमान् लोंकाशाह 100/-
3. हाँ ! मूर्तिपूजा शास्त्रोक्त है 30/-
4. सिद्ध प्रतिमा मुक्तावली 100/-
5. बत्तीस आगम सूत्रों से मूर्तिपूजा सिद्धि 50/-
6. जैन धर्म में प्रभु-दर्शन-पूजन की मान्यता थी ? 50/-

अन्य साहित्य

1. नवयुग निर्माता (पुनः प्रकाशन) (पू.आ.वल्लभसूरि म.सा.) 200/-
2. मूर्तिपूजा (गुजराती-खुबचंदजी पंडित) 50/-
3. लोंकागच्छ और स्थानकवासी (पू. कल्याण वि. म.) 100/-
4. हमारे गुरुदेव (पू. जंबूविजयजी म.सा. का जीवन) 30/-
5. सफलता का रहस्य - सा. नंदीयशाश्रीजी म.सा. 20/-
6. क्या जिनपूजा करना पाप है ? (पू.आ. अभयशेखरसूरिजी म.सा.)30/-
7. जैन शासन की आदर्श घटनाएँ (सं.पू.आ. जितेन्द्रसूरिजी म.सा.) 30/-
8. उन्मार्ग छोडिए, सन्मार्ग भजीए (पं. शांतिलालजी जैन) 30/-
9. जड़पूजा या गुणपूजा - एक स्पष्टीकरण (हजारीमलजी) 30/-
10. पुनर्जन्म - (सं.पू.आ. जितेन्द्रसूरिजी म.सा.) 30/-
11. क्या धर्म में हिंसा दोषाव्ह है ? 30/-
12. तत्त्व निश्चय (कुए की गुंजार पुस्तक की समीक्षा) --
13. चलो कदम उठाएँ (सं. पू.मु. ऋषभरत्न वि.म.सा.) 50/-
14. जिनमन्दिर ध्वजारोहण विधि-सं. जे.के. संघवी/सोहनलालजी सुराणा

चल रहे कार्य

1. जैन इतिहास (श्री आदिनाथ परमात्मा से अभी तक)
2. सूरि मंत्र कल्प

।। जैन शासन–जैनागम जयकारा।।

संपादित ग्रंथों की सूचि : (प्रकाशनाधीन)

1. जैन दर्शन का रहस्य
2. प्राचिन जैन तीर्थ – अंटाली
3. श्री सराक जैन इतिहास
4. जैन दर्शन में अष्टांग निमित्त भाग 1,4,5 (साथ में)
5. जैन दर्शन में अष्टांग निमित्त भाग 2,3 (साथ में)
6. जैन स्तोत्र संग्रह
7. जैन नगरी तारातंबोल – एक रहस्य
8. Research on Jainism
9. मिशन जैनत्व जागरण और मेरे विचार
10. जैन ग्रंथ– नयचक्रसार
11. प्राचीन जैन पूजा विधि– एक अध्ययन
12. जैनत्व जागरण की शौर्य कथाएँ
13. जैनागम अंश
14. जैन शासन का मुगल काल और मुगल फरमान
15. जैन योग और ध्यान
16. जैन स्मारकों के प्राचिन अंश
17. યુગ યુગમાં મળજો જૈન શાસન (ગુજરાતી)
18. मंत्र संसार सारं (भाग –2) (पुनः प्रकाशन)
19. मंत्र संसार सारं (भाग –3) (पुनः प्रकाशन)
20. मंत्र संसार सारं (भाग –4) (पुनः प्रकाशन)
21. मंत्र संसार सारं (भाग –5) (पुनः प्रकाशन)
22. अज्ञात जैन तीर्थ
23. प्राचिन जैन स्मारकों का रहस्य
24. जैन दर्शन – अध्ययन एवं चिंतन
25. जैन मंदिर शुद्धिकरण
26. सूरिमंत्र कल्प संग्रह

27. अजमेर प्रांत के जैन मंदिर
28. जैनत्व जागरण - 3
29. विविध तीर्थ कल्पों का अध्ययन
30. जैनदेवी महालक्ष्मी-मंत्रकल्प
31. जैन सम्राट संप्रति - एक अध्ययन
32. जैन आराधना विधि संग्रह
૩૩. જૈન ધર્મનો ભવ્ય ભૂતકાળ (ભાગ-૧, ગુજરાતી)
૩૪. જૈન ધર્મનો ભવ્ય ભૂતકાળ (ભાગ-૨, ગુજરાતી)
૩૫. જૈન ધર્મનો ભવ્ય ભૂતકાળ (ભાગ-૩, ગુજરાતી)
૩૬. જૈન ધર્મનો ભવ્ય ભૂતકાળ (ભાગ-૪, ગુજરાતી)
૩૭. જૈન ધર્મનો ભવ્ય ભૂતકાળ (ભાગ-૫, ગુજરાતી)
38. सम्मेतशिखर महात्म्य सार
39. मेवाड़ देश में जैन धर्म
40. જંબૂ શ્રુત એન્સાયકલોપિડિયા (પૂ. ગુરૂદેવશ્રી ને સમર્પિત શ્રુત પુષ્પ)
41. जैन धर्म और स्वराज्य
42. ચંદ્રોદય (પૂ. સા. ચંદ્રોદયાશ્રીજી મ.સા. નું જીવનકવન)
43. जैन श्राविका शान्तला
44. પૂ. બાપજી મહારાજ (સંઘસ્થવીર આ. ભ. સિદ્ધિસૂરિજી મ.સા.નું ચરિત્ર)
45. મારા ગુરૂદેવ (પૂ. જંબૂવિજયજી મ.સા. નું સંક્ષિપ્ત જીવન દર્શન)
46. જૈન દર્શન અને મારા વિચાર
47. श्री भद्रबाहु संहिता - (आ. भद्रबाहु स्वामी द्वारा निमित ज्ञान प्रकरण)
48. પ્રશસ્તિ સંગ્રહ (પ. પૂ. ગુરૂદેવ જંબૂવિજયજી મ.સા. દ્વારા લખાયેલી પ્રશસ્તિ-પ્રસ્તાવના સંગ્રહ)
49. ગુરૂમૂર્તિ-દેવીદેવતા મૂર્તિ અંગે વિચારણા...

*** नोंध - सभी ग्रंथों का कार्य पूर्ण हो चुका है। सभी ग्रंथ जल्द ही प्रकाशित होंगे।**

स्थापित किया जिसमें उन्होंने दिगंबरों की सात बातों का इन्कार किया और किसी दुर्भाग्यपूर्ण समय में जिनपूजाविधि में भी उन्होंने परिवर्तन किया। इस से प्रथम तो वीसपंथी तथा तेरहपंथी लोगों में पूजाविधि के विषय में झगड़ा चला और बाद में इसी कारण से तीर्थों में श्वेतांबरों के साथ भी विवाद आरंभ हुआ। यद्यपि आज भी श्वेतांबर तथा इन तेरहपंथियों के कारण ही तीर्थों में झगड़े शुरु हुए थे। अंत में न्याय श्वेतांबरों के पक्ष में दिया गया है अतः इन दोनों (वि.सं. 2008 के आसपास) ये झगड़े कुछ अंशों में शांत हुए हैं तथा विवेकशील दिगंबर जैनों की भी ऐसे विवादों के प्रति अरूचि होने लगी है। इस प्रकार जिनबिंब तथा जैन तीर्थों से संबंधित मतभेद बाद में ही उत्पन्न हुआ था।

(इति जैन प्रतिमा की नग्नता–अनग्नता)

(संपादकीय–जैनों में मूर्तिपूजा विषयक मान्यता–प्राचीनता विषयक जूनागढ़ के तथा महुड़ी के शिलालेखों के उल्लेख यहाँ महत्त्वपूर्ण सिद्ध होंगे।)

जैन परंपरा का इतिहास - भाग-1

जूनागढ़ – गिरनार तो यदुकुलतिलक त्रिभुवनभानु नेमिनाथ के समय का प्राचीन तीर्थ है। वहाँ अनेक जैन मंदिर एवं गुफाएं हैं। उसकी तलहटी में स्थित जूनागढ़ में उसके बाद की शताब्दि के प्राचीन शीलोख प्राप्त हुए हैं। श्री अमृतलाल व पंड्या लिखते हैं कि क्षत्रपकाल में काठियावाड में जैन धर्म का प्रचार बहुत हुआ था उस समय के दो लेख प्राप्त हुवे हैं। 1. जुनागढ़ के साधु प्यारा के मठ में से मिला हुआ लेख तथा 2. रा. ईश्वरलाल जी. राजा की प्राप्त प्राचीन लेख जिसका स्केल उन्होंने दिनांक 4–5–51 के जन्मभूमि में प्रकाशित करवाया है और जिसमें ‘तीरथस्वामी थाने’ शब्द स्पष्ट रूप से उत्कीर्ण है।

पुस्तक के लाभार्थी परिवार की अनुमोदना

निर्मलाबेन सेवंतीलाल झवेरी परिवार

पुत्र-दिपक, शैलेश, पुत्रवधू-उज्जवला, मीना, पौत्र-भावेश, करन,
पौत्रवधू-प्रीयंका, मिहीका, प्रपौत्र-क्रीश, प्रपौत्री-यश्वी